शीराज़ा (हिन्दी)

जे. एंड के. अकैडमी ऑफ आर्ट,
कल्चर एंड लैंग्वेजिज़, जम्मू

द्विमासिक [illegible] हिन्दी

वर्ष : 32 अंक : 3 [illegible]

पूर्णांक 153

प्रमुख सम्पादक सम्पादक

[illegible] [illegible]

[illegible]

फोन : [illegible], 337643

[illegible] [illegible]

द्विमासिक

शीराज़ा

हिन्दी

वर्ष : 32

अंक : 3

अगस्त-सितम्बर 1996

पूर्णांक 133

प्रमुख सम्पादक

बलवंत ठाकुर

सम्पादक

डॉ॰ उषा व्यास

संपर्क : सम्पादक, शीराज़ा हिन्दी, जे॰ एंड के॰ अकादमी ऑफ आर्ट कल्चर

एंड लैंग्वेजिज़ जम्मू ।

फ़ोन : 579576 : 577643

मूल्य : 2 रुपये

वार्षिक : 10 रुपये

प्रकाशक : बलवंत ठाकुर, सेक्रेटरी, अकादमी ऑफ़ आर्ट कल्चर
एंड लैंग्वेजिज़ जम्मू 180001

मुद्रक : मैसर्ज रोहिणी प्रिंटर्ज, कोटकिशन चन्द जालन्धर—144004

इस अंक में–

सम्पादकीय—

—किसी भी सृजनात्मक कार्य के लिये समय के साथ-साथ रचनाकारों का सृजन कौशल भी बढ़ना चाहिये । भाषा को और अधिक परिष्कृत किया जाना चाहिये । सृजेता का जीवन भी आम आदमी की तरह जटिल हुआ है । उसकी व्यस्तताएं और तनाव बढ़े हैं । यदि वह 'फेर बदल' के दुष्चक्रों में न फंसेगा तो कहीं गहरे विचारात्मक संचेतन में उतर अधिक श्रेयस्कर साहित्य दे सकेगा साहित्य की धरोहर को और भी समृद्ध कर सकेगा ।

आज उसकी रचनात्मकता, पाठकों से सीधे संवाद एवं लेखकों की दृष्टि गम्यता मौलिक सृजन की नयी तकनीक बन गयी है । शीराज़ा इस साहित्यिक यज्ञ में हिन्दी पाठक के साथ है। हमारी आशा है आपका सहयोग उत्तरोत्तर हमें प्रतिष्ठा देगा ।

पत्रिका आपकी है; आपके लिये है और अपना होना मानवीय संवेदन की पहली शर्त है ।

नया अंक आपको पसंद आयेगा इसी कामना के साथ ।

—उषा व्यास

आलेख

अशोक वाजपेयी के आलोचनात्मक सरोकार

□ डॉ० रवि रंजन

अपने समय में वैज्ञानिक यथार्थवाद की वैज्ञानिकता को नजरअन्दाज कर तथाकथित प्रगतिवादी समीक्षकों द्वारा लिखी जा रही आलोचना की सीमाओं का निदर्शन करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि "प्रगतिशील आलोचना ने व्यंजना की अपेक्षा विचारों को ही अधिक महत्वपूर्ण समझा है और साहित्यकारों को मुख्यत: उन्हीं के अनुसार परखा है।" (मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृ० 100) स्पष्ट ही डॉ० शर्मा यहां ऐसे आलोचकों के विशेष संदर्भ में अपनी बात कह रहे हैं जो प्रगतिशीलता के आत्यंतिक आवेग में वैज्ञानिक यथार्थवाद के उस मूल प्रत्यय को ही भुला बैठते हैं जिसके अनुसार साहित्य प्रचार को बजाय सामाजिक प्रभाव का अस्त्र होता है।

ऐसा नहीं है कि यह मुद्दा केवल प्रतिबद्ध शिविर के लेखकों की ही चिन्ता का विषय रहा हो। 1936 में लखनऊ में आयोजित 'प्रगतिशील लेखक संघ' के ऐतिहासिक अधिवेशन में प्रगतिशील शब्द पर आपत्ति करने के बावजूद अपने समय में आलोचना के क्षेत्र में प्रोपेगेण्डावादी साहित्य से उत्पन्न खतरे के प्रति व्याप्त उदासीनता के प्रसंग में प्रेमचन्द ने लिखा था कि "यह इसी उदासीनता का नतीजा है कि 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' जैसा गीत हमारे राष्ट्रीय जीवन में इतना प्रचार पा रहा है। 'वन्देमातरम' को यदि 'विजयी विश्व' के मुकाबले रख कर देखिए तो आपको विदित होगा कि आपकी लापरवाही ने हिन्दी साहित्य को आदर्श से कितना नीचे गिरा दिया है।" (साहित्य का उद्देश्य, पृ० 93) बहरहाल, यह सुखद है कि कालान्तर में प्रगतिशील समीक्षा ने 'ध्वजवंदना' (गुप्त जी) तथा '। अगस्त 947' (पंत) जैसी कविताओं के मुकाबले गिरिजा कुमार माथुर के उस गीत की श्रेष्ठता को पहचान लिया, जिसकी टेक

है : 'आज जीत की रात पहरूए सावधान रहना।' डॉ॰ नामवर सिंह के शब्दों में इस विषय पर नए कवियों द्वारा अग्रजों से बेहतर रचना करने का कारण था परिवेश के प्रति जागरूकता और सामाजिक यथार्थ का अपेक्षाकृत अधिक गहरा बोध, जिससे कविता में रागात्मक समृद्धि और कला में सौष्ठव आता है।

किन्तु सन् 1962 के बाद से हिन्दी में प्रगतिशील आलोचना के नाम पर जो लिखा-पढ़ा जाता रहा है, उसमें से अधिकांश में मैनेजर पांडेय के शब्दों में कहीं आलोचना को मार्क्सवादी बनाने के जोश में साहित्यिकता की हत्या होती रही है, तो कहीं साहित्यिकता रक्षा की अनिरिक्त सावधानी में मार्क्सवाद पीछे छूटता रहा है। इसके साथ ही वहां कुछेक अपवादों को छोड़कर विभिन्न ज्वलंत मुद्दे पर कई बार वितंडावाद एवं परस्पर संवादहीनता की स्थिति भी दिखायी पड़ती है। अतः ऐसी हालत में यदि आलोचकों के बीच परस्पर अहमन्यता के दुष्परिणामस्वरूप विचारणीय मुद्दे गौण होने लगें तथा गुणगान एवं गुटगान का स्वर प्रबल हो जाए तो यह आश्चर्यजनक नहीं। एक लम्बे अर्से तक हिन्दी आलोचना-क्षेत्र में व्याप्त इन विसंगतियों के साथ-साथ एकेडमिक जड़ता के कारण उसमें जो अविश्वसनीयता पैदा हो गई थी, उसकी निर्मम पड़ताल करते हुए उनका हल खोजने की सदिच्छा से सन् 1960 के बाद जो रचनाकार इस क्षेत्र में सक्रिय हुए उनमें अशोक वाजपेयी का नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय है। अपने समय की आलोचना में पैदा हुए गम्भीर संकट की पहचान करते हुए उन्होंने सन् 1974 में लिखा था कि "आम तौर पर आलोचना में विश्वास की जितनी कमी दिखाई देती है, उतनी शायद पहले कभी नहीं थी।......यह अविश्वास कुछ इतना सर्वग्रासी हो गया लगता है कि स्वयं आलोचकों को आलोचना में, समीक्षा-कर्म में विश्वास नहीं रहा है।" ऐसी स्थिति में उन्हें यह अनिवार्य लगता है कि आलोचना "न केवल रचना के औचित्य के बारे में सवाल उठाये बल्कि स्वयं अपने बारे में भी निर्ममता से सवाल उठाये और उनके हल खोजे।"

सन् 1970 में प्रकाशित अपनी पहली आलोचना पुस्तक 'फिलहाल' के आरम्भ में अशोक वाजपेयी ने लिखा था कि "एक जागरूक बुद्धिजीवी के लिये इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या होगा कि अपनी समकालीन दुनिया में उसे बौद्धिक चुनौतियां दी जाना बंद हो जाएं। नतीजा यही होता है कि हिन्दी में बुद्धिजीवी बिना खुद चाहे, बौद्धिक चुनौती के अभाव में धीरे-धीरे स्थापित व्यवस्था बन जाता है।" स्पष्ट ही उनका सारा का सारा आलोचनात्मक उपक्रम इस 'स्थापित व्यवस्था' के विरुद्ध एक 'छापामार लड़ाई' है जो विचारधारा-विशेष के आतंक से हमारे आलोचकीय विवेक को मुक्त कर उसे इकहरा होने से बचाती है। कहना न होगा कि इसके अभाव में आलोचना किसी रचनाकार, कृति या प्रवृत्ति की समग्रता के साथ पड़ताल करने की बजाय प्राय. फतवेबाजी पर उतर आती है। स्पष्ट ही ऐसी आलोचना में सर्जनात्मकता का नितांत अभाव होता है जो किसी भी आलोचनात्मक लेखन की श्रेष्ठता की बुनियादी शर्त है। वाजपेयी जी ने आलोचनात्मक विमर्श के नाम पर बुने जाने वाले शब्दजाल से सृजनात्मक आलोचना को अलगाते हुए ठीक ही लिखा है कि "सृजनात्मक आलोचना तीसरा साक्ष्य है..... वह (आलोचक) फैसला नहीं देता और आपको भी फैसले पर पहुंचने की हड़बड़ी से थाम कर समझ का, सहानुभूति और हिस्सेदारी का सुख देना चाहता है। हमें उम्मीद है कि आप उससे प्रतिकृत हुए बिना नहीं

रह सकने।" यदि आलोचना हमारे भीतर रचना के प्रति सहानुभूति और हिस्सेदारी का भाव पैदा करने की बजाय उस पर कोई इकतरफा फैसला आयद कर देती है तो इसे और कुछ नहीं बल्कि फूहड़ आलोचना-दृष्टि का ही प्रतिफल कहा जाना चाहिये। एक अन्य स्थान पर वाजपेयी जी ने स्पष्ट लिखा है कि—"निर्णय का दो-टूकपन या तो तानाशाही का लक्षण है या विज्ञान की प्रवृत्ति।"

कवियों के आलोचनात्मक सरोकार पर विचारते हुए अरुण कमल ने दो बातों की सम्भावना व्यक्त की है। एक तो यह कि वह अपने बारे में, अपनी कविता के बारे में और कविता लिखते-पढ़ते हुए अब तक अर्जित अपने अनुभवों के बारे में लिखेगा। वह जो भी लिखता है उसके केन्द्र में खुद वही होता है और उसकी समस्याएं होती हैं। ऐसी दशा में उसकी आलोचना का महत्व भी बहुत कुछ उसकी कविता के महत्त्व से निर्धारित होता है। वह कवि कैसा है और कवि के रूप में उसका महत्व, उसकी समस्याओं या अनुभवों का महत्व क्या है--इसी से उसको आलोचना का महत्व भी खुद-ब-खुद निश्चित हो जाता है।

दूसरी स्थिति वह हो सकती है जब कवि अपने निजी कवि व्यक्तित्व को थोड़ी देर के लिए ओझल करके या पर्दे के पीछे छोड़कर कविता की तमाम समस्याओं तथा अन्य कवियों के सम्बन्ध में बात करे। इस दशा में उसकी आलोचना अपने काव्यानुभवों का लाभ उठाते हुए भी अपनी कवि-चेतना तक सीमित न रहेगी।

स्पष्ट ही बतौर आलोचक अशोक वाजपेयी दूसरी कोटि में आते हैं। आलोचक के रूप में जहाँ एक ओर उनकी मुख्य चिन्ता साहित्य-क्षेत्र में कविता को उस का केन्द्रीय स्थान दिलाने की रही है वहीं दूसरी ओर आलोचना द्वारा पाठकों में साहित्य की ऐसी स्तरीय समझ पैदा करने की रही है जिससे उसे अन्यान्य ज्ञान-धाराओं व अनुशासनों की तुलना में अवयस्क या अविश्वसनीय न माना जाये। वाजपेयी जी ने जब बीसवीं सदी के अक्षर-जगत में कविता द्वारा नई केन्द्रीयता प्राप्त कर लेने तथा हिन्दी में भी कविता की केन्द्र की ओर वापसी की बात करते हुए उसे इस शताब्दी की केन्द्रीय विधा के रूप में स्वीकारा था, तो इसको लेकर हिन्दी में काफी उग्रचर्चा हुई थी। पर आलोचना की पालिटिक्स से जरा हटकर विचारने से यह बात बड़ी आसानी से समझ में आ सकती है कि कथा साहित्य के पाठकों की बड़ी संख्या एवं उसके अपरिमित अर्थविस्तार के बावजूद हमारे समय एवं समाज का तेजाबी यथार्थ अपनी पूरी जटिलता के साथ कविताओं में जितना व्यक्त होता रहा है, कुछेक अपवादों को छोड़कर शायद ही किसी दूसरी विधा में उतना सम्भव हो सका है। वाजपेयी जी की मान्यता है कि "कविता की संस्कृति उस एक-से-पन की अपसंस्कृति के विरुद्ध है जो हरेक को एक-दूसरे "जैसा बना देती है।" कविता उनकी दृष्टि में "मनुष्य का स्थायी प्रजातंत्र है, क्योंकि वह मनुष्य के अस्तित्व की बहुलता को अपना मूल आधार मानती है और उसे किसी कीमत पर तजने को तैयार नहीं है.....और यह लड़ाई, सारी कविता, मनुष्य को एक-सा बना देने वाली शक्तियों के विरुद्ध एक तरह की गुप्त लड़ाई है।"

मुक्तिबोध ने साहित्य-विवेक को जीवन-विवेक का पर्याय बताते हुए साहित्यिक कृतियों के सम्यक् विवेचन-विश्लेपण हेतु साहित्य से बाहर जाना जरूरी माना है। इस दृष्टि से

अशोक वाजपेयी के आलोचक पर विचारने से हम पाते हैं कि वे भी रचना को सही पड़ताल के लिए उससे बाहर जाने के हिमायती रहे हैं और गये भी हैं। इस संदर्भ में उन्होंने साफ लिखा है कि "आलोचना सिर्फ रचना का नहीं, उसके माध्यम से मनुष्य का ही साक्षात्कार है। ...हमारी समूची संस्कृति के स्वास्थ्य के लिए यह अनिवार्य है कि आलोचना रचना में सामाजिक यथार्थ को लेकर व्याप्त सरलीकरणों, रूमानियत और राजनीतिक भोलेपन और नैतिक सम्वेदनहीनता के विरुद्ध लगातार संघर्ष करे ....." कहना न होगा कि यहां नैतिक संवेदनहीनता के विरुद्ध नैतिक मूल्यवत्ता का जो आग्रह व्यक्त हुआ है उस की सही पहचान के लिये शिक्षा (Moral) एवं नैतिकता (Morality) के बीच फर्क करना जरूरी है। वस्तुत: शिक्षा जहां रचनाकार के प्रत्यक्ष नैतिक उद्देश्य से सम्बद्ध होती है तथा जिसे रचना से अलगाकर भी देखा जा सकता है वहीं महान साहित्यिक कृतियों में नैतिक मूल्य घटित रूप में अपने अस्तित्व को चरितार्थ करते हैं। इस सन्दर्भ में वाजपेयी जी का एक वक्तव्य ध्यान देने योग्य है जिसमें उन्होंने स्पष्ट किया है कि "नैतिक से मुराद भद्राचार से नहीं, अच्छे-बुरे के भेद से है।" अत: यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि वाजपेयी जी के लिए नैतिकता कहीं से भी प्रत्यक्ष नीतिकथन एवं सतही धार्मिकता न होकर मानवीय बोध का पर्याय है और स्पष्ट ही इससे रहित आलोचना पाठक में जीवनगत सम्भावनाओं का बोध उत्पन्न नहीं कर सकती। दूसरे शब्दों में कहें तो जब तक आलोचक में मानवीय स्थिति की 'एम्बीगुइटी का पूरा और गहरा अहसास' नहीं है तथा वह यथार्थ के इकहरे बोध से ग्रस्त है तब तक उससे किसी सार्थक हस्तक्षेप की उम्मीद नहीं की जा सकती है। एक युगांतर-कारी रचनाकार एवं आलोचक के रूप में मुक्तिबोध की सफलता का राज यही है कि वे यथार्थ को उसकी सम्पूर्णता में महसूस करते हैं। वाजपेयी जी के शब्दों मे "उनका प्रखर नैतिक विवेक इस अहसास से ही उपजता है और दूसरों पर ताबड़-तोड़ फैसला देने से बचता है।"

जार्ज लुकाच ने अपनी पुस्तक "राइटर एण्ड क्रिटिक" में ठीक ही साहित्यिक-सांस्कृतिक सक्रियताओं को उस सम्पूर्ण ऐतिहासिक-सामाजिक प्रक्रिया का अनिवार्य अंग माना है जो अनवरत रूप से इतिहास के प्रत्येक कालखंड में घटित हो रही होती है। आलोचना को जैसे वाजपेयी जी ने तीसरा साक्ष्य कहा है, वैसे ही इतिहास को यदि मनुष्य की तीसरी आंख कहा जाए तो यह अनुपयुक्त न होगा। संसार में न जाने कितनी ऐसी कटु-मधु स्मृतियां हैं जो इतिहास भले ही खुद न बोलता हो पर वे उसके विभिन्न कालखण्डों में घटित हो चुकी होती हैं। शब्द-चेतन समुदाय जब कभी मनुष्य के इस सत्य की खोजबीन करने के लिए तत्पर होता है, यह उसे सिर्फ उसी तीसरी आंख से दिखता है। किन्तु इस क्रम में आक्तोविया पाज का एक वक्तव्य ध्यान देने योग्य है कि कविता एक ऐसी साहित्यिक विधा है जो ऐतिहासिक प्रक्रिया से गुजरती हुई भी कई बार उससे बाहर निकल जाती है। अत: ऐसे में साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में इकहरे इतिहास-बोध की आयातित पूंजी वाले अल्पप्राण आलोचकों की स्थिति यदि दयनीय हो जाए तो यह आश्चर्य-जनक नहीं।

अशोक वाजपेयी रचनाकार एवं आलोचक, दोनों ही के लिये इतिहास-विवेक को अपरिहार्य मानते हैं। उनकी धारणा है कि "ऐतिहासिक विवेक के अभाव में रचनात्मक

एवं आलोचनात्मक, दोनों स्तरों पर बुरे परिणाम हुए हैं।" इसके साथ ही "राग-विराग की गोधूलि का गल्प "शीर्षक अपने सम्पादकीय आलेख में उन्होंने निर्मल वर्मा की इतिहास-चेतना पर विचारते हुए जो स्थापनाएं दी हैं उनसे उनकी अपनी इतिहास-दृष्टि का भी साफ पता चलता है। वाजपेयी जी के शब्दों में निर्मल वर्मा "उन लेखकों में से नहीं हैं जो इतिहास नामक सामान्यीकरण की सुरक्षा से संसार को जांचते-परखते हैं पर उनकी विशिष्टताओं से कतराते हैं—निर्मल वर्मा के चिंतन में इतिहास के ठोस और विशिष्ट अनुभव हैं: उनको पूर्व-पश्चिम के द्वन्द्व में, परम्परा में, औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक परिस्थिति में सुपरिभाषित अवस्थिति है। वह इस शताब्दी का और भारतीय समाज का ठोस इतिहास है—निरा वैचारिक संपुजन नहीं जिसका अवधारणात्मक औचित्य भले समझ में आ जाए पर जिसमें अन्तर्विरोध और ठोस सचाइयों के लिये जगह नहीं है। इतिहास के इस अनैतिहासिक बोध के बरअक्स निर्मल वर्मा इतिहास की दुर्गन्ध भरी दुकान में उतर कर आज के व्यक्ति सम्बन्धों की पड़ताल करते हैं—उनका इतिहास-बोध बहुत कुछ को भुलाकर रचा-बसा बोध नहीं, बल्कि एक ऐसा बोध है जो भूलने के षड्यत्र को लगातार प्रतिरोध देता है..... वह इतिहास के अतिक्रमण या उसे हाशिए पर ढकेल कर पाई गई सम्पूर्णता नहीं है—वह इतिहास की लहूलुहान रंगभूमि में, बीचों-बीच खड़े होकर देखा गया सम्पूर्णता का स्वप्न है।"

अशोक वाजपेयी के इस लम्बे विचारोत्तेजक एवं प्रभावोत्पादक उद्धरण से गुजरते हुए हम आचार्यत्व के दंभ से रहित एक ऐसे नितांत अनौपचारिक तथा गहन अन्तरंग संवाद से रू-ब-रू होते हैं जो उन की अपनी इतिहास-दृष्टि और एतद्विषयक उनके गहरे सरोकारों का पता देने में सक्षम है। किन्तु गौरतलब है कि उनकी इतिहास विषयक सारी स्थापनाएं निर्मल वर्मा के रचना-संदर्भ से पुष्ट नहीं होतीं। सच तो यह है कि निर्मल वर्मा की इतिहास चेतना में स्खलन के जो बिन्दु हैं उन्हें वाजपेयी जी के आलोचक ने सम्भवत: नज़रअंदाज़ कर दिया है। वर्मा जी की 'शब्द और स्मृति' तथा 'कला का जोखिम' जैसी पुस्तकों में संगृहीत निबंधों से गुजरते हुए कई बार हम उनके इतिहास-विरोधी रुख से रू-ब-रू होते है। उनकी धारणा है कि समय के विकास के साथ मानव जाति का पतन होता गया है। उनके शब्दों में "आज की सभ्यता का संकट और प्रदूषण उस ऐतिहासिक क्षण के साथ शुरू हो गया था, जब मनुष्य प्रकृति से अलग छिटक गया था—यह मानव सभ्यता और मनुष्य की यातना का समान स्रोत है, जो आज हमें घसीट कर अणु युग तक ले आया है।" (कला का जोखिम, पृ० 14) अपने इसी निबन्ध में उन्होंने मिथक से मनुष्य के अलगाव को उसका दूसरा पतन कहा है।

ऐसे में गम्भीरतापूर्वक विचारने से स्पष्ट होता है कि अशोक वाजपेयी के इतिहास विषयक अपने निष्कर्ष उन्हें निर्मल वर्मा से नितांत भिन्न दिशा में ले जाते हैं। रचनाकार एवं आलोचक, दोनों ही के लिए वाजपेयी जी इतिहास विवेक को अपरिहार्य बताते हुए अक्षर-जगत में सक्रिय लोगों से अपेक्षा करते हैं कि वे विचारधारा-विशेष के आत्यंतिक आग्रह के तहत मनुष्य को इतिहास का असहाय गुलाम बनाने की प्रवृत्ति से मुठभेड़ करें। सच तो यह है कि अशोक वाजपेयी के लिये साहित्य इतिहास के दायित्व-बोध से लैस मनुष्य के सामाजिक व्यवहार का एक अंग और विशिष्ट रूप है। अपने समय की ऐतिहासिक-सामाजिक प्रक्रिया से अलग-अलग एवं 'मानवीय उपस्थिति' के बोध से रहित साहित्य उन्हें

कदापि स्वीकार्य नहीं है। सम्भवत: इसी कारण "अपनी आत्मा के लुहारखाने में अपने समाज का अनबना अन्त:करण गढ़ने गए" मुक्तिबोध उनके प्रिय कवि हैं।

परम्परा एवं परम्परागत संस्कृति की हिमायत करने के बावजूद अशोक वाजपेयी उन 'नीरंध्र परम्परावादियों' से नितांत भिन्न हैं जो आज बीसवीं सदी के अन्तिम चरण में अपनी सशरीर उपस्थिति के बावजूद दैविक, दैहिक व भौतिक तापों से अक्षुण्ण किसी अतीत को शरण पाने के आकांक्षी हुआ करते हैं। वाजपेयी जी के लिए परम्परागत संस्कृति न तो महज़ चिंतन की वस्तु है और न ही किसी सतही किस्म की कौमी एकता के प्रचार का साधन। सच तो यह है कि संस्कृति विषयक उनके विवेचन में हमें एक ही साथ निरन्तरता के सूत्र को पकड़ने तथा परिवर्तनकारी प्रस्थान बिन्दुओं को पहचानने का समावेशी प्रयास परिलक्षित होता है। संस्कृति के क्षेत्र में अब तक की महानतम उपलब्धियों को वे मनुष्य के सम्मिलित प्रयासों का प्रतिफल मानते हैं। सूर के एक पद—'रह री मानिनि मान न कीजै'—के काव्य सौष्ठव पर टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं कि "यह सूरदास के कवित्व या हिन्दी भाषा के किसी कौशल भर का प्रतिफल नहीं है। इनके पीछे पूरी संस्कृति का बल है जिसका उपयोग सूरदास ने किया है।" एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं कि "कोई भी साहित्य अपनी संस्कृति का अतिक्रमण नहीं कर सकता। साहित्य संस्कृति से ही अर्थपूर्णता पाता है।" यह बात उनकी अपनी रचनाओं से भी पुष्ट होती है। 'नीलाकाश में अकेली' कविता में उन्होंने लिखा है—

"सोचती है / यौवन जल है / अंजलि का
वह ज्यों मांगे / त्यों देना है।"

स्पष्ट ही इन काव्य पंक्तियों में निहित भावबोध कवि को सूरदास से विरासत में प्राप्त हुआ है। वस्तुत: सूर की कविता जिस प्रकार मध्ययुगीन सामंती मानसिकता का तिरस्कार करती हुई मनुष्य के सहज उल्लास एवं आवेग को नितांत वर्जनाहीन अभिव्यक्ति प्रदान करती है उसी प्रकार अपनी शक्ति एवं सीमा में अशोक वाजपेयी की यह कविता हमारे समय में कुंठाहीन स्वस्थ प्रेम-चित्रण की नई जमीन तैयार करने की दिशा में एक सार्थक पहलकदमी है।

साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में निष्पक्ष की ही तरह पूर्वाग्रहहीनता को भी एक प्रकार का मिथ बताते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है कि "हर आलोचना के ...पूर्वाग्रह होते हैं। ... वह तटस्थ या पूर्वाग्रहहीन नहीं हो सकती है।" उनके शब्द कर्म से गुजरते हुए यह महसूस किया जा सकता है कि एक विचारक एवं आलोचक के रूप में रचनाओं का विश्लेषण करते हुए कमोवेश वे अपने पूर्वनिर्धारित विचारों तथा संसार के अन्यान्य लेखकों-विचारकों की स्थापनाओं से अवश्य प्रभावित होते हैं। पर जहां वे दुनिया को आलोचक की बजाय बतौर रचनाकार व्याख्यायित करते हैं, वहां सीधे जीवन से प्राप्त अनुभवों का रचनागत विनियोजन करते हुए अपने सारे पूर्वग्रहों से मुक्त होने की दिशा में अग्रसर होते दिखाई पड़ते हैं। फ्रांसीसी कवि-आलोचक रेमी द गुर्मों अथवा एलियट से शब्द उधार लेकर इस स्थिति को कोई बड़ी आसानी से 'संवेदनशीलता का असाहचर्य' कह सकता है। किन्तु गौरतलब है कि अशोक वाजपेयी के सम्पूर्ण लेखन पर मुकम्मल तौर पर विचारने से वहां हमें ऐसी एकीभूत संवेदनशीलता के दर्शन होते हैं जिसमें अभिप्राय और प्रभाव की एकता है तथा जो अन्तर्वस्तु एवं रूप दोनों ही स्तरों पर वैविध्यपूर्ण है। □

वर्तमान कथा संदर्भ में नारी संवेदन

□ शशि प्रभा शास्त्री

इससे पूर्व कि आज के कथा साहित्य में उल्लिखित नारी के स्वरूप और प्रतिमा को विश्लेषित किया जाए, 'आधुनिक' शब्द पर विचार कर लेना समीचीन होगा। आधुनिक शब्द का आशय यदि अवधिसापेक्ष नवीनता से हो. तो उस स्थिति में हर प्राचीन स्थिति अपने आरम्भिक समय में नयी ही रही होगी। बौद्ध और जैन काल जो आज प्राचीन कहे जाते हैं, अपने आरम्भिक समय में नये आधुनिक ही रहे होंगे। हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग भी यानी उन्नीसवीं सदी की आधुनिकता भी आज कई चरणों में से होकर गुज़र चुकी है और इसलिए उसकी आधुनिकता पर भी प्रश्न चिन्ह लग सकता है।

आधुनिक शब्द का एक दूसरा अर्थ इसके विशिष्ट दृष्टिकोण से भी सन्दर्भित किया जा सकता है अर्थात् एक ऐसा जीवन दर्शन, जिसका आधारभूत तत्व उसका देशकाल के साथ जीवन्त एवं सचेतन सम्बन्ध होना है डॉ० नगेन्द्र के अनुसार आधुनिक मनुष्य का जन्म उस समय हुआ, जब वह अपने देशकाल के प्रति अपने युग और इतिहास के प्रति प्रबुद्ध हुआ। इस प्रबुद्धता के परिणामस्वरूप आधुनिक जीवन दृष्टि में सामाजिक चेतना और आरम्भिक चरण में चेतना का भी स्वत; ही समावेश हो गया था। (आस्था के चरण पृ० 218)।

आधुनिक दृष्टि, परम्परा का विरोध नहीं करती, वह उसे प्रवहमान बनाती है यानी निरन्तर अग्रसारित। जीर्ण पुरातन का त्याग, संशोधन पुनर्मूल्यांकन की पद्धति से नवनव रूपों के विकास की आकांक्षा, वैविध्य और नवीनता के प्रति आकर्षण आधुनिकता के सहज अग हैं। (आस्था के चरण 218)।

आधुनिक शब्द का यह पारिभाषिक अर्थ है, जो कालक्रम से परिबद्ध नहीं है, इसलिए आवश्यक नहीं, कि आधुनिक दृष्टि प्राचीन काल में न हो या अर्वाचीन काल में उसकी

उपस्थिति अनिवार्य रूप से मिले ही। शंकराचार्य की दृष्टि के सम्मुख बौद्ध धर्म अपेक्षाकृत पुराना होते हुए भी आधुनिक कहा जा सकता है। कबीर की दृष्टि सूरदास की अपेक्षा निश्चित ही आधुनिक है।

आधुनिक शब्द का तीसरा अर्थ वर्तमान से संग्रथित किया जा सकता है। आधुनिक अर्थात् वर्तमान जो मूलत: भविष्य से बद्ध नहीं है। पाश्चात्य विचारक अनुभव को मात्र वर्तमान से ही संबद्ध मानते हैं उनके अनुसार अनुभव का मूल भविष्य नहीं होता, मात्र वर्तमान होता है।

प्रख्यात विचारक किर्केगार्द ने धार्मिक तथा आस्थावान होने के कारण 'क्षण केन्द्रित जीवन' के आधार पर अस्तित्ववाद की व्याख्या की, किन्तु उसकी दृष्टि में शिव और सुन्दर से सत् ऊंचा नहीं है। सत् शिव और सुन्दर का आपस में संग्रथन संचयात्मक व्यक्ति के लिए विचार में नहीं, वरन अस्तित्व में होता है। (डॉ॰ हृदय नारायण मिश्र की 'अस्तित्ववाद' पुस्तक से उद्धृत पृ॰ 60) नास्तिक विचारक सार्त्र ने अनास्था के माध्यम से अस्तित्ववाद को विश्लेषित किया।

अनवरत चिन्ता की स्थिति आज की आधुनिकता का प्रमुख लक्षण बनता चला जा रहा है। इसी चिन्ता के फलस्वरूप उपजता है—नैराश्य, एकाकीपन, सामाजिक और दूसरे सन्दर्भों से कटाव, सम्बन्धों की विच्छिन्नता, पारस्परिक अजनबीपन और आशंका—इन सब स्थितियों ने जीवन के रंग और रस को लगभग समाप्त कर दिया है। फलत: आधुनिक युग का प्रतिनिधित्व करने वाले जिस जीवनदर्शन का विकास हुआ है, अन्तर्मुखी चिन्तकों ने उसको 'अस्तित्ववाद' और बहिर्मुखी चिन्तकों ने इसे 'निराशावादी वैज्ञानिक मानववाद' कहा है। आज सामान्य रूप से इस जीनवदर्शन को ही आधुनिकता के सूत्रबद्ध लक्षण के रूप में स्वीकार किया जा रहा है। (आस्था के चरण पृ॰ 219)

1947 में देश के विभाजन के फलस्वरूप जो उथल-पुथल हुई उसने राजनैतिक स्थितियों के साथ-साथ सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक, नैतिक सभी पुरानी मान्यताओं को ध्वंस कर डाला। जीविका का प्रश्न प्रमुख हुआ तो स्त्री को भी इस समस्या से जूझना पड़ा तदनुरूप योग्यता का अर्जन भी उसके लिए आवश्यक हुआ। शिक्षा की स्थितियों ने नारी की विचारधाराओं को भी बदला, उसे अधिक संवेदनशील, अपने अधिकारों के प्रति अधिक सजग और अपने पैरों पर खड़े हो जाने, शक्ति प्राप्त कर लेने के कारण अधिक स्वाभिमानी और स्वच्छन्द बना दिया। आजीविका के स्रोत भी परिवर्तित हुए। इस सिलसिले में पुरुषों से सम्पर्क होने के कारण स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के नये आयाम सामने आये।

आर्थिक और तत्सम्बन्धी दूसरे सवालों ने परिवार में विघटन को जन्म दिया, शरणार्थी के रूप में लोग एक जमीन से दूसरी जमीन पर पहुंचे तो परिवारों और धन-सम्पत्ति, जायदाद के छिन्न-भिन्न होने के बाद ही स्थितियों ने जहां लोगों को कर्मठ और पुरुषार्थी बनाया, वहां परम्परागत नैतिकता का भी अवमूल्यन हुआ।

नवधनाढ्यों का जीवन टीमटाम और कृत्रिमता का अधिक हो गया होटलों और क्लबों का प्रचार-प्रसार बढ़ा, तो मनोरंजन के स्वरूपों में परिवर्तन हुआ। सुरा-सुन्दरी लोगों के

लिए आम बात हो गई। पद-प्रतिष्ठा की ललक आरम्भ हुई, तो उसकी प्राप्ति के लिए सदाचार के स्थान पर तिकड़मबाजी और भ्रष्टाचार आरम्भ हुआ। अर्थ का प्रश्न सर्वोपरि हुआ तो सम्बन्धों में शैथिल्य तो आया ही, अर्थ के दानव ने लोगों को दूसरी तरह से भी निगलना आरम्भ किया —नैराश्य, अकेलापन, टूटन, आर्थिक संघर्ष उसके साथी बनते चले। आज का लेखक आधुनिक इसी अर्थ में है, कि अपने लेखन के माध्यम से उसने समकालीन स्थितियों को खचित करते हुए तर्कसंगत विवेकपूर्ण दृष्टिकोण को अपनाया, जिससे उसका लेखन एक विशेष काल के चौखटे में आबद्ध न रह कर सार्वकालिक बनता चला, नूतनता के रंग इसमें नैरन्तर्य को प्रभावी बनाते गये। समाज और साहित्य का का एक-दूसरे से संश्लिष्ट होने के कारण यही सब स्थितियां और परिवेश उभरा है साहित्य में।

'आधुनिक' शब्द को विश्लेषित करने तथा स्थितियों का जायज़ा लेने के उपरान्त वर्तमान लेखन का पर्यालोचन कर लेना सार्थक रहेगा, जिससे नारी का स्वरूप भली प्रकार व्यंजित हो सके और उसकी प्रतिमा अर्थात् छवि को निर्धारित किया जा सके।

लेखिकाओं में एक सुप्रसिद्ध नाम है, कृष्णा सोबती का —मित्रों मरजानी, सूरजमुखी अंधेरे के और ज़िन्दगीनामा इत्यादि उनके उपन्यास हैं, तो बादलों के घेरे, तिन पहाड़, यारों के यार और ए लड़की उनके प्रसिद्ध कहानी संग्रह। मित्रो यानी सुमित्रा उनके मित्रो मरजानी उपन्यास की नायिका है, परम्परागत सती साध्वी कुलीन शालीन वधुओं में उसकी गिनती नहीं की जा सकती। कामाग्नि से व्यथित लालसाओं का एक पुलिन्दा थामे वह एक असामान्य नारी है, जो अपनी अतृप्त यौनेच्छाओं को खुले आम सबके सम्मुख प्रस्तुत करती रहती है। पति के पुंसत्व के प्रति संदिग्ध निराश मन:स्थिति का ढोल पीटती है यों मानवीय संवेदना के अंकुर भी उसके मनस्तल में गहराई से धंसे हुये है, वह एक विशिष्ट चरित्र है, वाचाल होती हुई भी वह भीतर ही भीतर घुटती हैं, गाली गुफतार करती है, तो गालियां सुनती भी है। ऐसी महिला के चरित्र का चरम उसकी उस उदात्तता में दृष्टव्य है, जब वह अपनी अकुलीन मां का उसके पास रहने का प्रस्ताव ठुकरा कर वापस ससुराल लौट जाती है। नारी के चरित्र का यह धूप छांही रंग उपन्यास को आधुनिक नारी से जोड़ता है।

चन्द्रकिरण सौनरिक्सा के एकमात्र उपन्यास 'चन्दन चांदनी' में एक मध्यमवर्गीय रूढ़िवादी परिवार की मनोरंजक कथा है।

आपका बंटी और महाभोज मन्नू भण्डारी के दो उपन्यास हैं, उनके कई कहानी संकलन भी हैं। आपका बंटी में मूल पात्र बंटी है, जो माता-पिता के विच्छिन्न सम्बन्धों के कारण आने को एक अलग स्थिति में पाता है। सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा से एक दम उलट इस उपन्यास ने पति-पत्नी के मध्य की दरार को पर्याप्त विस्तार दिया है, पारिवारिक टूटन का यह एक सटीक उदाहरण है।

उषा प्रियम्वदा के तीन उपन्यास हैं, पचपन खम्भे : लाल दीवार, रुकोगी नहीं राधिका और शेष यात्रा—तीनों ही उपन्यासों में पारिवारिक चित्रों की तथा मध्यम वर्गीय परिवारों की समस्याओं की झांकी प्रमुख है। वर्तमान युग की पारिवारिक टूटन और

सामाजिक दायरों और फलस्वरूप व्यक्ति की संकीर्ण मानसिक सोच का जायजा लेने के लिए पचपन खम्भे : लाल दीवार पुस्तक की कथा का अवलोकन ही पर्याप्त होगा, जहां उपन्यास की नायिका आर्थिक विपन्नता में घिरे अपने परिवार के समायोजन हेतु हॉस्टिल की वार्डन बनने के लिए मजबूर होती है और जिन्दगी भर एकाकी जिन्दगी जीने के लिए अभिशप्त होती है।

डॉ० राकेश कुमार और ऋषि चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित पुस्तक (हिन्दी कहानी 1978) में मेहरुन्निसा परवेज की कहानी 'फाल्गुनी' में फाल्गुनी नाम की नायिका पति से अपेक्षित स्नेह-सान्निध्य प्रेम-मनुहार से विरहित रहने के कारण उसके मित्र केशव से संलग्न हो जाती है। केशव से उत्पन्न पुत्र राजू दो पिताओं के लाड़ प्यार के मध्य पल कर बड़ा हो जाता है। इस सत्य को फाल्गुनी पति की मृत्यु के आसन्न समय में ही जान पाती है कि उसका पति राजू के दूसरे पिता की सच्चाई से अवगत था। नारी मन की हूक और व्यथा को इस कहानी में बड़े मार्मिक ढंग से उरेहा गया है। नारी के मानसिक द्वन्द्व और स्थितियों को उनके कोरजा उपन्यास में पृथक् ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

अक्षर प्रकाशन से प्रकाशित मृदुला गर्ग के उपन्यास 'उसके हिस्से की धूप' के द्वितीय संस्करण में आज की नारी की उन्मुक्तता और अवांछित स्थितियों में न जी पा सकने की स्थिति में अपने लिए खुद मार्ग निर्धारित करने में उसके सक्षम होने का ब्योरा अत्यन्त रोचक और विश्वसनीय ढंग से प्रतिपादित किया गया है। उनका चितकोबरा उपन्यास भी नारी की उन्मुक्तता को उपस्थित करता है, जो आधुनिक नारी की साहसिकता का एक उदाहरण है।

अरुणा सीतेश की एक कहानी वेसरम (हिन्दी कहानी 1980 पृ० 105 में उद्धृत) में पति की दुर्घटना में मृत्यु के कारण पचास हजार रुपये रहित राशि के रूप में मिलने की सम्भावना से उपजी पत्नी कम्मों की सन्तुष्टि और खुशी उस समय विलीन हो जाती है, जब उसका पति अचानक सिर पैरों में पट्टियां लपेटे घर में दाखिल होता है। जिस स्वर में कम्मो पति को 'वेसरम' शब्द से सम्बोधित करती करती है, वह स्वर पत्नी की दयनीयता, विवशता और उसकी भयंकर विपन्नता को एक साथ प्रकट कर देता है। अर्थ की विभीषिका ने आधुनिक युग में पारस्परिक सम्बन्धों की ऊष्मा को किस प्रकार बटोर कर एक ओर कर दिया है, यह कहानी उसका सटीक उदाहरण है।

राजी सेठ ने अपने उपन्यास 'तत्सम में विधवा नारी के मानसिक उहापोहों उसके मनोद्वन्द्व और उस अवस्था में विभिन्न स्थितियों में से गुजरने का विवरण बड़े सशक्त ढंग से उपस्थित किया है।

मृणाल पाण्डे की धर्मयुग में प्रकाशित कहानी 'लड़कियां' में आधुनिक रूढ़ि पर उपहास व्यंजित किया गया है —एक विशेष अवसर पर बड़े आदरपूर्वक जिमाई जाने वाली लड़कियां वस्तुत: हेय दृष्टि से देखे जाने वाला वर्ग है वर्तमान समाज की यह एक बड़ी विडम्बना है।

चित्रा मुद्गल की कहानी लाक्षागृह (हिन्दी कहानी 78) में एक कामकाजी लड़की की पूछ सिर्फ उसके कमाऊ होने के कारण होती है लंगड़े लड़के के प्रस्ताव

को ठुकरा कर वह दूसरा प्रस्ताव इसीलिए स्वीकार कर लेती है कि वह यह नहीं जानती, कि उसका प्रार्थी पति उसकी अर्जन की क्षमता के कारण ही उससे विवाह करना चाहता है, जब वह इस सच्चाई को पाती है तब तक काफी देर हो चुकी होती है, क्योंकि इस लालची-स्वार्थी व्यक्ति को अस्वीकार कर जब वह लंगड़े व्यक्ति से ही विवाह करने की बात सोचती है तो पता लगता है, कि उस लंगड़े व्यक्ति का भी सम्बन्ध निश्चित हो चुका है, कामकाजी लड़की का भी इस रूप में उपहास करने वाली वर्तमान समाज की यह एक दयनीय तस्वीर है ।

कामकाजी महिला को भी आज के युग में कितने संघर्ष और यातनाएं झेलनी पड़ती हैं । इसकी विस्तृत तस्वीर शशिप्रभा शास्त्री ने अपने उपन्यास 'परछाइयों के पीछे' में प्रदर्शित की है, जहां एक टेलीफोन ऑपरेटर अपने बच्चों के प्रेम के कारण ही उस धूर्त व्यक्ति से जुड़े रहना चाहती है, उसे शक और ईर्ष्या की दृष्टि से देखता हुआ उसे आद्योपान्त संताप की आग में झुलसाये रखता है ।

शशिप्रभा शास्त्री का दूसरा उपन्यास सीढ़ियां सामाजिक व्यवस्था और खुद की बीमार सोच की शिकार नायिका मनीषी के संत्रास की कहानी है, जहां अपनी मुंह बोली बहन के पुत्र सुकेत के प्रस्ताव को वह सामाजिक भय से ठुकराने के उपरान्त उसे आद्योपान्त एक मलाल की स्थिति में जीना पड़ता है । उनका उपन्यास 'कर्करेखा' शुष्क असहृदय पति के व्यवहार के कारण नारी के सपनों और अरमानों के ध्वस्त होते रहने का एक प्रामाणिक दस्तावेज़ है । स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर ही आधारित है उपन्यास उम्र एक गलियारे की । पारिवारिक टूटन-झगड़ों की एक लम्बी श्रृंखला हमें उनके उनके 'ये छोटे महायुद्ध' में मिलती है ।

कृष्णा अग्निहोत्रीं का उपन्यास है, 'टपरे वाले' जिसमें कि नीचे तबके की स्त्रियों की जीवन शैली की कथा है, जबकि, मैत्रेयी पुष्पा का बुन्देलखण्ड प्रदेश से सम्बन्धित आंचलिक उपन्यास 'और बेतवा बहती रही' में नारी की विवशताओं और उसके समर्पण का एक मर्मस्पर्शी लेखाजोखा है ।

सूर्य बाला हिन्दी साहित्य का एक प्रतिष्ठित जाना माना नाम है—उपन्यासों और कहानी संकलनों की एक श्रृंखला के साथ-साथ इनकी दूरदर्शन पर प्रसारित रचनाएं भी अत्यन्त प्रभावी हैं । अपनी विनोदपूर्ण चुटीली शैली में इन रचनाओं ने समाज की विडम्बना-पूर्ण स्थितियों को भरपूर उभारा है । इस सन्दर्भ में दिशाहीन, मेला तीतर, टूटते हुए पुल, ना किन्नी ना जैसी कुछ कहानियों का उल्लेख कर देना ही पर्याप्त नहीं होगा ।

इसके अतिरिक्त भी प्रतिमा वर्मा, क्रान्ति, त्रिवेदी, कान्तिदेव, सुधा अरोड़ा उर्मिला शिरीष, उषाकिरण खान, नमिता सिंह, अपर्णा टैगोर, बिन्दु अग्रवाल सुमति अय्यर तथा अन्य कई समर्थ लेखिकाएं हैं, जिन्होंने अपने लेखन द्वारा नारी के चरित्र के विभिन्न पक्षों को कई नूतन कोणों से उजागर किया है ।

आधुनिक कथा साहित्य का यह संक्षिप्त लेखाजोखा इस सत्य को प्रतिपादित करने में तो निश्चित रूप से समर्थ है, कि आधुनिक स्थितियों में नारी जीवन अत्यधिक विडम्बनापूर्ण रहा है फिर भी विभिन्न ऊहापोहों, संवेदनाओं और आकांक्षाओ के क्षितिज से टकराती हुई नारी आज के जीवन की हर विभीषिकाओं में डूबती-उतराती हुई भी अपने

एक पुरुषार्थी कर्मठ-व्यवहार कुशल किन्तु एक संवेदनशील नारी की छवि प्रस्तुत करने में सफल रही है। परिस्थितियों ने उसे जिन्दगी की कड़वी सच्चाइयों से जूझना सिखाया है; तो कई स्थलों पर वह मानवीय निर्बलताओं के वशीभूत को अपनी लालसाओं और अरमानों की पूर्ति के लिए भी झुकती-झुलती दिखाई गयी है।

कुल मिला कर आज के कथा साहित्य में नारी की जो तस्वीर उभर कर सामने आयी है, वह आज की स्थितियों में उसकी एक सटीक-स्वाभाविक एवं स्पृहणीय तस्वीर है, जिसकी यथार्थपरकता को नकारा नहीं जा सकता। तथापि इस सत्य को अवहेलित किया जाना भी न्यायसंगत नहीं होगा, कि इतने सबके बावजूद आधुनिक कथा साहित्य ने नारी के सम्पूर्ण दुखदर्दों तथा अभिशापों को उसके सम्पूर्ण कोणों से उजागर किया जाना बहुत कुछ अंशों में अब भी शेष हैं।

अपना अगला कदम इक्कीसवीं सदी की देहलीज पर रखने के लिए प्रस्तुत समय के साथ यह एक खिलवाड़ ही माना जाना चाहिए, कि अवांछित स्थितियों में नारी को 'सती' का अवरोहण करवा देने वाले तथा सुदूर अवस्थित ग्रामीण इलाकों में भीषण, नारी के जघन्य शोषण प्रसंग कथा साहित्य से अभी निष्कासित हैं, इसके लिए तीक्ष्ण गवेषणात्मक रुचि से ओतप्रोत कलमों की आवश्यकता है। □

जम्मू-कश्मीर के लेखकों से विशेष अनुरोध

राज्य की कला, संस्कृति एवं साहित्य के सृजन एवं विकास का साक्ष्य प्रस्तुत करती रचनाएं आमंत्रित हैं, अविलम्ब भिजवाएं।

—सं०

कश्मीर में मूर्तिशिल्प के आयाम

□ अर्जुनदेव मजबूर

कश्मीर क्षेत्र का अछूता सौंदर्य, विभिन्न आस्थाओं का दार्शनिक पक्ष, कला की अद्भुत शैली और विचित्रता का मूर्त्त रूप; जिस का मिश्रित स्वरूप हमें वहां की मूर्ति कला में दृष्टिगोचर होता है। करीब आठ शताब्दियों में इस कला ने जो जौहर दिखाये हैं उनका विश्लेषण करने से इस कला के प्रति एक विशेष गर्व और आनन्द की प्राप्ति होती है। सबसे विचित्र बात यह कि इस कला को जीवित रखने वालों में से केवल दो एक मूर्तिकारों के ही नाम ज्ञात हो सके हैं। नाम के प्रति मोह बहुत कम कलाकारों की महानता का ही द्योतक है।

मुख्य रूप से हमें पत्थर कांसा, पीतल, सोना, मिट्टी, चांदी और हाथी दांत से बनी हुई मूर्तियां मिलती हैं। हां तांबे से बनी मूर्तियां कश्मीर, राजस्थान तथा उत्तर-पश्चिम के स्थ नों से उपलब्ध तांबे से बनती थीं। एक बात स्पष्ट है कि एक लम्बे युग तक कश्मीर की मूर्तियों की मांग सारे भारत में रही है। इसका कारण मूर्तियों की सुदृढ़ता, कलात्मकता और खास शैली का होना ही था। कश्मीरी शैली में समय-समय पर अन्य विकसित शैलियों का सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है और इससे इस कला ने नई ऊंचाइयों को छुआ है। इन शैलियों में मध्य-एशिया की हैलिनिस्ट-शैली, मथुरा-शैली गुप्तकालीन शैली और गांधार शैली प्रमुख हैं। कश्मीर अनेक धर्मों और विश्वासों को अपनी गोदी मे पालता आया है। इन में वैष्णव, शैव, और बौद्ध धर्म प्रमुख है और इनका सुन्दर रूप ही नहीं अपितु इनकी गहन दृष्टि हमें कश्मीर की विभिन्न मूर्तियों में उपलब्ध होती है।

हां, यह दुःख की बात है कि किन्हीं कारणों से समग्र संस्कृति-पुंज हमारे हाथ में नहीं रह सका। पत्थर की मूर्तियां श्रीनगर के श्री प्रताप सिंह, संग्रहालय लाल मंडी में सुरक्षित हैं किन्तु अन्य धातुओं से बनी मूर्तियां बाहर के देशों में जा चुकी हैं। इन देशों में तिब्बत, अमेरिका, लन्दन, जर्मनी, फ्रांस मुख्य हैं। इस प्रकार हमें इन देशों के कला-प्रेमियों

और कला-विशारदों का अनुगृहीत होना चाहिए कि उन्होंने इस अपूर्व निधि को न केवल सुरक्षित रखा अपितु इस की जानकारी सारे विश्व को दी ।

मूर्तियों में हमें जो वस्तुएं बनी हुई मिलती है उन में मण्डल, प्रभामण्डल, कमल, शंख, जप करने की माला, पुष्पमालिका या वन माला और विभिन्न प्रकार के आभूषण तथा वस्त्र सम्मिलित हैं। वाहनों में मोर, सिंह, गरुड़, हाथी, आयुधों में खडग, गदा, लगुड और अनेक तांत्रिक चीज़ें देखने को मिलती हैं। कश्मीरी शैली में अंगों का सौन्दर्य आंखों की विभिन्न मुद्रायें और शरीर की समता और सुगढ़ता आकर्षित करती है। बुद्ध मूर्तियों में जो मुद्रायें उपलब्ध है, उनमें यह मुद्र यें उल्लेखनीय है :

योग, अभय, वरद, सूची, ध्यान, ज्ञान, प्रवर्तन, तथा भूमि स्पर्श-मुद्रा में। मूर्तियों में विशेष राशि बुद्ध मत से सम्बद्ध मूर्तियों की है । इन मूर्तियों में बोलती हुई कला मन को आनंदित करती है । ऐसी मूर्तियों में ध्यान-मुद्रा में बुद्ध कहीं बैठे हुए और कहीं खड़े दिखते है। बुद्ध से सम्बद्ध हाथी दांत कीं मूर्तियां एक विशेष महत्व रखती हैं। यह हाथी दांत की मूर्तियां देवदार के सुन्दर नक्काशी वाले फ्रेमों (चौखटों) में फिट की गई हैं। यह मूर्तियां बहुत ही बारीकी और विशेष परिश्रम से निर्मित हुई हैं। इन में मंजु-श्री की मूर्तियां और तांत्रिक प्रभाव युक्त मूर्तियां हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं। बुद्ध मूर्तियों के वृहद-मूर्ति पट कश्मीरी कला के उपहार हैं। ऐसे दो पट्ट आज तक उपलब्ध हैं इनमें से एक श्री प्रताप सिंह म्यूज़ियम श्रीनगर में मौजूद है। इस मूर्ति पट के मण्डल में अग्नि शिखाओं को दिखाया गया है। दायरे में कोई बीस मूर्तियां बनी हैं। किन्तु बीच की बृहद्ध मूर्ति कहीं खो गई है जो बुद्ध की ही बताई जाती है।

जब हम शिव से सम्बन्ध मूर्तियों पर विचार करते हैं तो इन पर भारतीय नाट्य-शास्त्र का प्रभाव स्पष्ट रूप से झलकता दिखाई देता है। शैव मूर्तियों में त्रिशूल, पाश, डमरू, घण्टा और पीछे की ओर नन्दी बना बना मिलता है। प्राय: सभी मूर्तियों के नीचे एक प्रकार की चौकी अथवा भद्रपीठ बना हुआ है। बुद्ध मूर्तियों में कहीं-कहीं इस पीठ के स्थान पर एक प्रकार की गुफा बनी मिलती है जो किसी पर्वत से गढ़ी हुई लगती है। इन गुफाओं में जो पशु बने मिलते हैं उनमें सिंह, हाथी, तथा कई प्रकार के वन्य पशु सम्मिलित हैं।

मूर्तियों की निर्माण शैली :—कश्मीरी शैली में मूर्तियां ढालने का काम एक बड़े ही विचित्र ढंग से होता था। इसमें मोम अथवा एक विशेष रेतीली मिट्टी से मूर्ति का खोल बनाया जाता था ओर फिर इसी में धातु को पिघलाकर डाला जाता था। इस प्रकार मूर्ति बनाकर फिर उसकी कमियों को ठीक करके पालिश से उसे चमकाया जाता था। दांतों और आंखों के लिए प्राय: चांदी का प्रयोग होता था। कई मूर्तियों पर की गई पच्चीकारी को देख कर आदमी दंग रह जाता है। कभी-कभी मूर्ति की चौकी अलग से बनती थी और फिर मूर्ति के साथ जोड़ दी जाती थी। कुछ मूर्तियों में तांबे का जड़ाव भी मिलता है। इस युग में कश्मीर में पहलगाम के समीप, अनन्तनाग और बारहमूला के समीप दो ग्रामों से तांबा उपलब्ध होता था जिसका प्रयोग मूर्तियां ढालने में किया जाता था। चांदी का प्रयोग

मूर्ति के वस्त्र, आभूषण, यथा हार, कानों की बालियां और कमरबंद के बटनों को दिखाने के लिए होता था। विष्णु, शैव तथा ब्रह्मा आदि हिन्दू मूर्तियों की अपेक्षा बुद्ध मूर्तियों में जड़ाव का काम अधिक किया गया है।

तिब्बत और कश्मीर :—ऐसा लगता है कि तिब्बत और कश्मीर का इस कला की दृष्टि से गहरा सम्बन्ध रहा है। कश्मीर और तिब्बत के आपसी सम्बन्ध सातवीं शताब्दी से आरम्भ होते हैं। लगता है कि कश्मीर के मूर्तिकारों ने तिब्बत भ्रमण किया है इसीलिये उनकी शैली का प्रभाव तिब्बत की शैली पर पड़ा है। यह बात भी उल्लेखनीय है कि महायान कश्मीर, तिब्बत तथा नेपाल में काफी लोकप्रिय था अत: इस धर्म से सम्बद्ध सिद्धान्तों का इन देशों की कला पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। ग्यारहवीं शताब्दी में कई कश्मीरी पंडित तिब्बत गए। इनमें से एक का नाम ज्ञान-श्री था। इसी प्रकार इस्लाम के आने के पश्चात् कई बौद्ध-भिक्षु तिब्बत आदि देशों में चले गए और वे कई प्रकार की मूर्तियां अपने साथ ले गए। अभिप्राय यह कि दोनों देशों के गहरे सांस्कृतिक सम्बन्धों के कारण मूर्तिकला की भी अभिवृद्धि हुई। तांत्रिक मूर्तियों में वज्र-सत्व, वज्रपाणि, मंजूश्री, यमन्तक तथा काल-चक्र की मूर्तियां काफी परिश्रम और सूझबूझ से बनाई गई हैं। इस प्रकार की मूर्ति में एक मूर्ति में गणेश को लेटा हुआ दिखाया गया है और एक बौद्ध उस पर प्रहार करने को हैं। इस प्रकार की मूर्ति बौद्ध-प्रभाव को स्पष्ट करती है और मूर्तिकार के बौद्ध होने का संकेत देती है।

जो विशेष प्रकार की मूर्तियां राजाओं, रानियों, मन्त्रियों तथा धनी व्यक्तियों द्वारा मन्दिरों में दान देने के लिए बनवाई जाती थीं उनमें दान कर्ता (Doner) मूर्ति की चौकी के साथ खड़ा दिखाया गया है। प्राय: दानकर्त्ताओं के नाम बहुत कम अंकित हैं। रानी दिद्दा द्वारा दान की गई एक मूर्ति में स्पष्ट रूप से उसका नाम तथा काल खुदा हुआ है। इस प्रकार की मूर्तियों का मूल्य हज़ारों सिक्कों में रहा होगा क्योंकि ये मूर्तियां अन्य साधारण मूर्तियों की अपेक्षा बहुत ही उन्नत कला द्वारा निर्मित होती थीं। ऐसी ही एक स्वर्ण-मूर्ति विश्वविख्यात मार्तण्ड मन्दिर के लिए निर्मित हुई बताई जाती जाती है। किन्तु इस मूर्ति का कोई अता-पता नहीं मिलता।

छठी शताब्दी की एक सूर्य-मूर्ति अपने में गांधार-कला का प्रभाव लिए है। इस सूर्य-मूर्ति के सिर पर एक ताज रूपी टोपी बनी है और मूर्ति का पहरावा एक लम्बा चोगा है। इस चोगे में कमर पर बन्धी पेटी बहुत ही मार्मिक बन पड़ी है। मूर्ति के पैरों में लम्बे बूट बने हैं। यह सारी पोशाक मध्य एशियाई देशों की ही है। यहां यह बताना उचित रहेगा कि फारस तथा ईरान के निवासी सूर्य की उपासना करते थे। सूर्य की यह अनुपम-मूर्ति चौदह सेंटीमीटर ऊंची है और नैशनल म्यूज़ियम नई देहली में सुरक्षित है। मूर्ति पर बना लम्बा चोगा घुटनों से काफी नीचे तक आया है और ठंडे देशों में प्रयुक्त होता है। कला का यह ताल-मेल कश्मीरी संस्कृति की उत्कृष्टता का ही द्योतक है।

गुप्तकालीन आठवीं-नौवीं शताब्दी के राकफेलर संग्रह के गौतम बुद्ध की मूर्ति में गौतम बुद्ध एक कमल पर बैठे हैं। उनकी गर्दन में एक 'केप' ढंग का कपड़ा है। कमल के बीच से दो नाल उभरते हैं जो दायें बायें गोलाकार मुड़ते हैं और बीच के कमल को आसन रूप में दिखाया गया है। कमलों के नीचे जल की लहरें उठती सी दिखाई देती हैं।

दोनों ओर नाग बुद्ध को आराधना कर रहे हैं। नीचे पीठिका पर अंकित है कि यह मूर्ति शंकर सेन जो हाथियों के समूह का अधिपति था, तथा राजकुमारी देवश्रिया की भेंट है जो दो वैशाख को दी गई अर्थात् अर्पित की गई है। दानकर्ताओं की पोशाक स्कैथियन (Scythian) है। मूर्ति की Theme (विषय) अजन्ता और कनहरी (Kanheri) है और तरतीब गांधार की हैं। यह मूर्ति महायान सूत्रों के आधार पर निर्मित की गई है।

इसी प्रकार सवातवादी से नवीं शताब्दी की वज्र धर्म लोकेश्वर की मूर्ति जो राकफेलर म्यूज़ियम में सुरक्षित है, सुन्दर ताज और पच्चीकारी के कारण देखने योग्य कलाकृति है। इस मूर्ति में चार हाथ हैं दो हाथों में तीर और कमान है तथा अन्य दो हाथ एक कमल पुष्प को खोल रहे हैं। यहां यह कहना उचित रहेगा कि कमल को हमारे मूर्तिकारों ने प्राय: सभी जगह प्रमुखता प्रदान की है। कमल के कितने ही रूप इन मूर्तियों में गढ़े गए हैं। मुख्य मूर्ति योग मुद्रा में है उसे एक सिंहासन पर आसीन किया गया हैं। सिंहासन को तीन विचित्र लग रहे पक्षी सहारा दे रहे हैं। इनके छोटे पंख हैं किन्तु पंजे पशुओं जैसे हैं। यह कांस्य की बनी हुई है। मूर्ति में आंखें नाच रही हैं उनमें प्रसन्नता और प्रेम की भावना उन्मुक्त है।

लक्ष्मी नारायण मन्दिर चम्बा की 1.38 मीटर ऊंची मूर्ति जो पीतल की बनी है, चतुरानन विष्णु की है। कश्मीर में चतुरानन विष्णु की पत्थर की मूर्तियां भी विचित्र कलाकारी का प्रदर्शन करती हैं। पीतल की मूर्ति में पीठिका में दो सिंह बने हैं। पीठिका के नीचे बायें दो छोटी-छोटी मूर्तियां और बनी हैं। मुख्य मूर्ति अत्यन्त सुन्दर पोशाक से सुसज्जित है। सिर पर एक चन्द्र बना है जिसमें एक कमल रखा गया है। सारी मूर्ति को एक जड़ाऊ फ्रेम में फिट किया गया है। इस प्रकार की तथा अन्य चतुरानन-मूर्तियों पर "मथुरा शैली" का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

यह बात विचारणीय है कि मूर्ति कला के क्षेत्र में कश्मीर का सम्बन्ध बंगाल, गुजरात, वाराणसी, मथुरा तथा सारनाथ से रहा है। इस प्रकार इन स्थानों के साथ इस कला का आदान-प्रदान अवश्य रहा होगा। कांस्य से बनी एक बुद्ध मूर्ति मगध से कश्मीर लाने का जिक्र मिलता है। इसी प्रकार गांधार में सवाल तथा भारत में चम्बा और उत्तर कश्मीर में लद्दाख से भी कला का आदान प्रदान हुआ है। कश्मीरी कला पर बैक्ट्रियन तथा पार्थियन प्रभाव भी स्पष्ट है। 1950 के पश्चात् कश्मीर में बनी कई मूर्तियां अन्य देशों के संग्रहालयों में उपलब्ध हुई हैं और इस से इस धारणा की पुष्टि होती है कि कला कृतियां बनाने का यह काम कश्मीर का एक प्रसिद्ध व्यवसाय था इसके लिए यहां कई कार्यशालायें स्थापित की गयी थीं।

कश्मीर में लकड़ी की मूर्तियां बनाने का चलन भी अवश्य रहा होगा किन्तु इस प्रकार की मूर्तियां सुरक्षित नहीं रह पाई हैं। हां मृण्मूर्तियां अवश्य अभी तक उपलब्ध हो रही हैं। कश्मीरी मूर्तिकला के ऊंचे नमूने हमें सवात (पाकिस्तान), हाखन, पुराणाधिष्ठान, बुर्जुहोम, चकदर (चक्रधर), सिमथन, चम्बा, पायर, अवन्तिपुर से प्राप्त हुए हैं। किन्तु इनमें प्राय: पत्थर और मिट्टी से बनी मूर्तियां ही मिली हैं। जिन मूर्तियों का जिक्र ऊपर हो चुका है उनमें कुछ को छोड़ सभी कला-कृतियां अब विदेशों के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। □

करवटें लेता इतिहास

चिनाब और वितस्ता की सांस्कृतिक गाथा

□ ज्योतीश्वर पथिक

चिनाब और जेहलम नदियों के बीच फैला हुआ जम्मू प्रदेश का पश्चिमी भाग ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से बड़ा समृद्ध रहा है। पूर्वी एवं पूर्वोत्तरी भाग में पनपी नाग सभ्यता ने हमारे सांस्कृतिक जीवन पर अपनी छाप छोड़ी। पश्चिमी एवं पश्चिमोत्तर क्षेत्रों में हमारी सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक धरोहर के आधार स्रोत आज भी विद्यमान हैं।

326 ईसा पूर्व सिकंदर के आक्रमण से लेकर 1971 के भारत पाक युद्ध तक यहां की भूमि अनेक ऐतिहासिक घटनाओं की साक्षी रही है। सातवीं शताब्दी ईसवी में ह्यून त्सांग इन्हीं दुर्गम मार्गों से होता हुआ कश्मीर पहुंचा था। ग्यारहवीं शताब्दी में लोहार कोट एक सशक्त राज्य के रूप में उभरा। यह वह राज्य था जिसने महमूद गजनबी के घाटी तक बढ़ते हुए कदमों को रोक दिया था। पुंरतस (पुंछ), लोहार कोट (लोहन). राजापुरी (राजोरी) का उल्लेख तो कल्हण की 'राजतरंगिनी' में भी मिलता है। जैन-उल-आबदीन उर्फ बड़शाह के नौशहरा के राजा जसरथ खोखर के साथ मैत्रीपूर्ण सुखद सम्बन्ध थे। वास्तव में शाही खान को जैन-उल-आबदीन बनाने में जसरथ खोखर का भारी योगदान रहा है। मुगलों के समय जहांगीर श्रीनगर तक नौशहरा-राजोरी और पुंछ के रास्ते से होकर ही जाता था। महाराजा रणजीत सिंह ने इन्हीं घाटियों से होकर कश्मीर घाटी पर विजय प्राप्त की थी। 1947, 1965 और 1971 के भारत-पाक युद्धों में इस क्षेत्र की जनता ने भारी विनाश देखा। इन सभी पहलुओं पर अगर तनिक गहराई के साथ विचार किया जाए, तो मालूम होगा कि ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से, यहां की समृद्ध विरासत और विभिन्न सभ्यताओं के प्रभावों के गम्भीर अध्ययन की अभी और भी जरूरत है।

अर्जुनदास मलिक की पुस्तक 'एलैग्जेंडर द ग्रेट : ए मिलिट्री स्टडी' के अनुसार,

326-27 ईसा पूर्व जब सिकन्दर ने पोरस को युद्ध के लिये ललकारा, तब पोरस का राज्य जम्मू से हजारा तक फैला था। सिकन्दर अंभी के राज्य तक्षशिला से होता हुआ, जेहलम नगर तक आ पहुंचा, जहां जेहलम नदी से पार पोरस का राज्य शुरू होता था। जेहलम-नदी पर आक्रमण को रोकने के लिये, पोरस ने जबरदस्त मोर्चाबंदी कर ली थी। हाथियों की चिंघाड़ से, सिकन्दर की सेनाओं के दिल दहल रहे थे। अतः सिकन्दर की सेनाओं के लिये नदी को सीधे पार करना, असम्भव था। अतः सिकन्दर ने अपनी कुछ सेना को पीछे छोड़ कर, नदी के साथ-साथ उत्तर दिशा में प्रस्थान करना शुरू किया। उस समय भारी वर्षा के कारण नदी में बाढ़ आई हुई थी) सिकन्दर ने अटक नगर से छः मील उत्तर से एक ऐसे टापू से नदी को पार किया, जहां पुंछ एवं जेहलम नदियों का संगम था। 'बेटस गज़ेटियर ऑफ कश्मीर, के अनुसार, आज से सौ वर्ष पूर्व यहां एक डाक बंगला था। जब सिकन्दर की सेना पोरस के शिविर की ओर आगे बढ़ी, तो पोरस ने पहले तो समझा कि छोटे पोरस या अभिसारी (पुंछ-नरेश) उस की सहायता के लिये आ पहुंचे हैं। मगर जब उसका सिकन्दर की सेना से सामना हुआ, तो वह स्तंभित रह गया। इसके बाद, जब युद्ध शुरू हुआ, तो सिकन्दर की सेना की दूसरी टुकड़ी भी नदी को सीधे पार कर आई। यह सारा युद्ध मीरपुर के उत्तर में लड़ा गया। अब ये सभी गांव अधिकृत कश्मीर के मंगला-बांध के पानी में डूब चुके हैं और कोहरी का मैदान भी इनमें शामिल है।

पोरस के साथ मित्रता के बाद, सिकन्दर अपने सैनिक दल के साथ, रावी-नदी के निकट पहुंचा। वहां उसे कठ-कवीलों के साथ आते-जाते समय घोर युद्ध करना पड़ा। कठ-कबीले के नाम पर ही 'कठुआ' का नामकरण हुआ है। सिकन्दर के हमले के बाद जब यूनानी विद्वान एवं इतिहासकार यहां आए, तो एक-दूसरे की संस्कृतियों में भारी आदान-प्रदान हुआ। नरसिंह दास नरगिस की पुस्तक "तारीख डोगरा देस" की भूमिका में, दया-कृष्ण गरदिश ने सिकन्दर के साथ आए विद्वान स्कॉईलैक्स ने एक ऐसी बुढ़िया के बीच संवाद का ब्योरा दिया है जिसके पति, पुत्र और पोते को ज़हरीले सांप ने डस कर मार दिया था। स्काई लैक्स इस बुढ़िया से कहता है कि तुम यह क्षेत्र छोड़ क्यों नहीं देतीं? वह उसे निमन्त्रण देता है कि वह उसके साथ यूनान चले। मगर बुढ़िया ने साफ इन्कार कर दिया। वह बोली कि यह क्षेत्र वह कभी छोड़कर नहीं जाएगी, क्योंकि प्रजातन्त्र की जड़ें यहां पर काफी मजबूत हैं। अम्बारां में जो टेराकोटाज (मिट्टी से बने नरमुंड) मिले हैं वे काफी कुछ यूनानी लगते हैं। इसके कुछ समय बाद सागला (वर्तमान स्यालकोट) में एक यूनानी राजा मनेंदर का शासन था। मनेंदर का बौद्ध भिक्षु नाग सेन के साथ संवाद मलिंदा पिन्हा के नाम का दस्तावेज है। सी० वी० बापत द्वारा सम्पादित पुस्तक "2500 इयर्स आफ बुद्धिज्म" की भूमिका में, डा० सर्वपल्ली राधा कृष्णन ने मलिंदा पिन्हा का विस्तारपूर्ण उल्लेख किया है। कुछ विद्वानों का विचार है कि इस संवाद की भाषा 'पाली' थी। मगर अपनी पुस्तक 'तारीख-ए-किश्तवाड़' में जी० एम० इशरत ने दावा किया है कि इस संवाद की भाषा प्राचीन किश्तवाड़ी है। यह बात सम्भव है कि पुंछ जिले के सीमावर्ती नगर मेंढर का नाम, मनेंदर के नाम पर ही पड़ा हो।

606-7 ईसवी में, चीनी इतिहासकार-सैलानी ह्यून त्सांग अपनी कश्मीर-यात्रा के दौरान, राजौरी एवं पुंछ से होकर गुजरा, तो अपनी पुस्तक 'ट्रैवल्स आफ ह्यून त्सांग' में

बह राजौरी एवं पुंछ नगरों में जनजीवन का विस्तारपूर्ण उल्लेख करता है। जहां पुंछ में उसने मकानों की छतों पर धान एवं गेहूं की खेती देखी वहां उसने राजौरी के लोगों के काले रंग एवं अक्खड़ स्वभाव का उल्लेख भी किया है। पुंछ का वर्तमान नगर कश्मीर के राजा ललितादित्य (721-61) ने बसाया था। कश्मीरी भाषा में इस नगर का नाम 'पुरनस' है, जो लंका के राजा रावण के दादा के नाम से है। कहा जाता है पुलस्त्य ऋषि ने यहां पर तपस्या की थी। मगर यहां पर सब से बड़ी घटना 1009 ईसवी में महमूद गजनवी और रानी दिद्दा के सेनापति एवं प्रधान मन्त्री तुंगा के बीच युद्ध था। महमूद गज़नवी नगरकोट और पंजाब को पराजित करता हुआ, कश्मीर तक जाने के इरादे से जब पुंछ नदी के किनारे पहुंचा, तो यहां पर उसका सामना तुंग के साथ हुआ। जिस की सहायता पंजाब का शाही-वंश का राजा कर रहा था। पुंछ-तवी के किनारे पर घमासान का युद्ध हुआ। एवं अत्याधिक आत्मविश्वास के कारण, तुंग को पराजय का मुंह देखना पड़ा। कुछ इतिहासकारों का विचार है कि तुंग युद्ध में मारा गया. जबकि अन्य इतिहासकारों का कहना है कि जब पराजित तुंग कश्मीर में रानी दिद्दा के दरबार में पहुंचा, तो दरबार के गलियारों में उस की हत्या कर दी गई। युद्ध का परिणाम चाहे कुछ भी रहा हो, मगर महमूद गज़नवी का कश्मीर जाने का अरमान, अधूरा रह गया। क्योंकि पहाड़ों में स्थित लोहारकोट (वर्तमान लारेन) की मोर्चाबंदी को तोड़ने में, वह नाकाम रहा। महमूद ने दूसरा युद्ध अभिमान 10 5 ईसवी में शुरू किया। इस बार वह शाही राजा की कमान में कश्मीर की सेनाओं को धकेलता हुआ लोहारकोट तक ले गया। महमूद ने लोहारकोट की घेराबंदी कर ली। मगर महमूद अपने भरसक प्रयत्न के बावजूद, महमूद की सेना लोहारकोट की सशक्त मोर्चाबंदी को नहीं तोड़ सकी। शरद ऋतु आ गई और महमूद की सेना को कश्मीर घाटी पर विजय प्राप्त करने का सपना अधूरा छोड़ने पर मजबूर होना पड़ा। वापसी पर, महमूद ने पुंछ-क्षेत्र में काफी लोगों को इस्लाम कबूल कराया। इस तरह इस क्षेत्र में इस्लामिक दर्शन का सूत्रपात हुआ। महमूद की सेनाओं के साथ टकराने वाला तुंगा, जो बाद में तुंगराय के नाम से सुप्रसिद्ध हुआ, राजौरी क्षेत्र के दूर स्थित बुन्दल-क्षेत्र का खासा था। वह डाक इत्यादि ढोने का काम करता था। महारानी दिद्दा के दरबार में पहुंचने पर, महारानी के साथ उसकी निकटता बढ़ गई और महारानी की कृपा से वह कश्मीर राज्य का प्रधानमन्त्री बन गया। स्वयं रानी दिद्दा लोहारकोट के राजा की बेटी थी, जिस का विवाह क्षेमगुप्त के साथ हो गया, जिसकी 980 ईसवी में मृत्यु हो गई और उसके बाद शासन का उत्तरदायित्व, रानी दिद्दा ने सम्भाला। महारानी को काफी उथल-पुथल एवं षड्यन्त्रों का सामना करना पड़ा। मगर एक कठोर राजनीतिज्ञ की भांति, उसने सभी परिस्थितियों का डट कर सामना किया और अपने रास्ते में आने वालों को या तो परास्त कर दिया या बेदर्दी से मौत के घाट उतरवा दिया। लगभग इन्हीं दिनों, तुंग ने राजौरी के नगर को आग लगवा कर ध्वस्त कर दिया था; क्योंकि वे शत्रु के शिकंजे में बुरी तरह से घिर चुका था।

पन्द्रहवीं शताब्दी में खोखर राजाओं के अन्तर्गत नौशहरा एक सुदृढ़ राज्य के रूप में उभरा था। सुल्तान सिकन्दर की मृत्यु के बाद, उसके बेटों—अलीखान और शाही खान में, सत्ता का युद्ध शुरू हुआ। शाही खान ने राजा जसरथ खोखर के पास शरण ली। और उचित अवसर पाकर शाही खान ने राजा जसरथ खोखर की सहायता से उसने सुल्तान

कुतब उद्दीन को परास्त करके, कश्मीर की सत्ता पर अधिकार जमा लिया। वह सुल्तान जैन उलबद्दीन के नाम से प्रसिद्ध हुआ; जिसका युग कश्मीर के इतिहास का स्वर्णिम युग कहलाता है। यहीं से जम्मू एवं कश्मीर सभ्यताओं के सामंजस्य की नींव मिलती है। मुगल समय में नौशहरा क्षेत्र के चभाल योद्धाओं की शक्ति ने काफी धाक जमाई।

मुगलकाल में, जहांगीर ने कश्मीर की कई यात्राएं कीं। अपने 39 वर्ष के शासनकाल में, जहांगीर ने 16 बार कश्मीर की यात्रा की। अपनी इन भव्य यात्राओं के दौरान, उसने भिम्बर, नौशहरा, मुरादपुर, राजौरी, थन्ना मंडी, नूरीछम्ब, बहरामगला, और अलीआबाद सराए में उसने विश्राम गृह और सरायों का निर्माण कराया। इन सरायों में राजौरी से 2` किलोमीटर दूर थन्नामंडी की मुगल सराय, निर्माण कला की दृष्टि से काफी उत्कृष्ट है। बड़े-बड़े स्नानगृह मुगल-निर्माण शैली का एक अनुपम नमूना है, जहां शाही खानदान की महिलाएं स्नान किया करती थीं। दीवारों पर अलंकरण का काम मुगल कला शैली को दर्शाता है। पीर पांचाल के दामन में बफलियाज से 10 किलोमीटर की दूरी पर एक 70 फीट ऊचा झरना, पहाड़ों से निकलता है, यहां पर एक स्नानागार बनवाया गया है, जहां सामग्री नूरजहां स्नान एवं सिंगार किया करती थी। पहाड़ी चट्टान के साथ उस समय एक बहुत बड़ा आईना जड़ दिया गया था, जो अब वहां नहीं है अब यहां केवल खाली फ्रेम नज़र आता है। नदी के किनारे ही एक विशाल बारादरी है, जहां बादशाह मदिरा पान किया करता था एवं नृत्य का आनन्द लेता था। घोड़ों के विश्राम के लिये अस्तबल के खंडहर अब भी मौजूद हैं। नूरी छम्ब झरना चंडी-गढ़ और बहरामगला के मध्य में, स्थित है। घने जंगलों के बीच नदी का फेनिल प्रवाह अतीव मनोरम दृश्य प्रस्तुत करता है।

1639 में जब जहांगीर घाटी की अपनी यात्रा से वापस जा रहा था तो बहरामगला के निकट ही वह बीमार पड़ गया। और राजौरी के आसपास उसकी मृत्यु हो गई। उन दिनों मुगलवंश में सत्ता के लिए संघर्ष चल रहा था और मलिका नूरजहां को डर था कि कहीं राज्य में विद्रोह न हो जाए। अतः अपने वजीरों के साथ परामर्श करके जहांगीर की आंतों को एक अज्ञात स्थान पर बनी मुगल सराय के प्रांगण में दफना दिया गया। फारसी भाषा में 'चिगास' आंतों को कहा जाता है। अतः इस गांव का नाम चिंगास से बिगड़ते-बिगड़ते "चिंगस" पड़ गया। इस परिसर की दीवारों पर मुगलकाल के आलेख हैं। अतः प्रांगण में एक कच्चा मज़ार है। आम लोग तो यही जानते हैं कि बादशाह जहांगीर को शाही मस्जिद लाहौर में दफनाया गया था। यह तथ्य बहुत कम लोगों को मालूम है कि बादशाह जहांगीर का एक गुमनाम मज़ार चिंगस में भी मौजूद है।

राजौरी की उन्हीं घाटियों से होते हुए महाराजा रणजीत सिंह की सेनाओं ने कश्मीर घाटी को परास्त करने के लिये, कई बार सैनिक-अभियान भेजे। मगर हर बार इन अभियानों को पराजय का मुंह देखना पड़ा। राजौरी और पुंछ के क्षेत्रों में भारी विध्वंस हुआ आखिर महाराजा रणजीत सिंह कश्मीर पर विजय प्राप्त करने में, सफल हो गये। पुंछ-क्षेत्र में पांचवें गुरु श्री अर्जुनदेव के जीवनकाल में ही, गुरु-आज्ञा से माधव जी सोढी पुंछ क्षेत्र में धर्म प्रचार के लिये आये थे। इसी क्रम से भाई रौचा सिंह ने इस क्षेत्र में एक

नंगाली साहब के भव्य गुरुद्वारे का निर्माण किया। इस गुरुद्वारे के सभी महन्त, आजीवन अविवाहित रह कर, धर्म का प्रचार करते रहे हैं। महाराजा रणजीत सिंह, महाराजा गुलाब सिंह ने इस गुरुद्वारे के प्रति श्रद्धापूर्वक भारी दान दिया। इस गुरुद्वारे के अधीन मानव-कल्याण की बहुत सारी योजनाएं शुरू की गई हैं। घने जंगलों में सुरम्य बातावरण में नंगाली साहब का सफेद गुम्बन्दों वाला गुरुद्वारा, सभी धर्मों एवं जातियों की श्रद्धा का केन्द्र है।

अखनूर का क्षेत्र, जहाँ यूनानी आक्रमण के समय प्रजातन्त्र का प्रकाश प्रज्ज्वलित था, संस्कृति का महत्वपूर्ण केन्द्र होने के बावजूद, प्रमाणित ऐतिहासिक दस्तावेज होने से वंचित रहा है। कहने को यहां मोहनजोदड़ो-सभ्यताओं के अवशेष भी मिलते हैं। मगर न तो इतिहास की किसी पुस्तक में इस नगर का उल्लेख मिलता है और न विभिन्न सभ्यताओं की जानकारी मिलती है। स्वर्गीय जगदीशचन्द्र साठे की एक रेडियो-वार्ता में, अखनूर को उन्होंने 'अक्षयनूर' के नाम मे परिचित कराया, जो उनके अनुसार सिकन्दर के किसी सेनापति के नाम से जुड़ा था। उनसे एक व्यक्तिगत: भेंट में प्रमाणित स्रोत उपलब्ध कराने कराने के बारे में आग्रह किया, तो उनका कहना था—"यह मेरी अपनी रिसर्च है। मगर यह बात असम्भव दिखाई नहीं देती कि सिकन्दर के आक्रमण के समय अखनूर समृद्ध नगर था या यह भी हो सकता है कि यह पोरस के साम्राज्य की राजधानी हो। स्व० नरसिंह दास नरगिस के कथनानुसार, उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत में, मियां मोटा सिंह जम्मू के के तत्कालीन राजा अजीत सिंह के अभिभावक थे। मगर 1820 में अखनूर में वर्तमान जम्मू-कश्मीर राज्य की नींव रखी गई। चिनाब-नदी के किनारे 'जियोपोता' पेड़ के नीचे महाराजा रणजीत सिंह ने अपने करकमलों से, गुलाब सिंह को राजतिलक देकर, जम्मू के बाईस पर्वतीय राज्यों का राजा बना दिया।

स्वतन्त्रता-उपरांत, अखनूर से पुंछ तक के समस्त क्षेत्र में युद्ध से भारी तबाही मची है मगर यहां के जनमानस ने साहस एवं बहादुरी से 1947-1965 और 1971 के आक्रमणों का सामना किया है।

1947 से पहले पुंछ जम्मू-राज्य के अधीन राज्य था। राजा बलदेव सिंह और जगदेव सिंह ने उस रमणीक क्षेत्र की प्रगति एवं विकास में, भारी योगदान दिया है। पुंछ की 'बाग ड्योढ़ी' और बलदेव महल' इन राजाओं के गौरव की कहानी बयान करते हैं। पुंछ जागीर में बाघ, पुलंदरी, हवेली और मैंढ़र चार तहसीलें थीं। मगर 15 अगस्त, 1947 के बाद, बाघ और पुलंदरी पर, पूरी तरह पाकिस्तानी अधिकार हो गया। इस समय हवेली की आधी तहसील एवं मैंढर तहसील में मिला कर. पुंछ जिला बना है। नवम्बर, 1947 में एक ब्रिग्रेड उड़ी के रास्ते ब्रिगेडियर प्रीतम सिंह की कमान में जब पुंछ पहुंचा, तो छांजला का पुल किसी भ्रमवश नष्ट कर दिया गया। इसके बाद, पुंछ नगर चारों तरफ से घिर गया। संकट की इस घड़ी में, ब्रिगेडियर प्रीतम सिंह ने साहस, बहादुरी एवं नेतृत्व, कौशल का जो परिचय दिया, वह भारत के इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाएगा। पुंछ चारों ओर से कट गया था और पुलदरी, बाग, एवं अन्य क्षेत्रों से शरणार्थी बन कर भारी संख्या में नागरिक जनता पुंछ आ गई थी। एक तरफ तो सुरक्षा की समस्या थी तो दूसरी ओर इतनी बड़ी आबादी के लिये खाने-

पीने एवं उपचार की समस्या थी। इस संकट की घड़ी में, नागरिक प्रशासन जैसे ठप्प होकर रह गया था। अत: सैनिक प्रशासन को ही नागरिक एवं सुरक्षा प्रशासन व्यवस्था करनी थी। ब्रिगेडियर प्रीतम सिंह के लिये पहला काम सैनिक कुमुक का प्रबन्ध करना था, जो सड़क के द्वारा होना असम्भव था। अत: विमानों के उतारने के लिये, हवाई-अड्डे के निर्माण का काम शुरू हुआ। 8000 व्यक्तियों द्वारा 72 घण्टे की अवधि में ही, हवाई अड्डा बनकर तैयार हो गया। यह कारनामा, सैनिक इतिहास की दृष्टि से शायद अपनी तरह का अनोखा कार्य है। जब हवाई अड्डा बन कर तैयार हुआ तो वहां पर डेकोटा विमान उतर सका तथा हवाई-रास्ते कुमुक पहुंच सकी।

1947 की दीवाली राजौरी की जनता के लिये वास्तव में एक अंधेरी रात सिद्ध हुई जब पाकिस्तानी आक्रमणकारियों ने नगर पर धावा बोल दिया। नगर के थानेदार हरिसिंह को पकड़ कर, राजौरी के डनीधार किले में ले जाया गया। निर्मम शारीरिक यातनाएं दी गयीं। नगर की भयभीत जनता अन्दरकोट के परिसर में जमा हुई जहां बहुत सारी महिलाओं ने कुएं में कूद कर जान दे दी, ताकि अपनी सतीत्व की रक्षा की जा सके। इसके बाद सभी ओर से आक्रमणकारी टूट पड़े। नगर में लूट-पाट और मारकाट का बाज़ार, गरम हुआ। मकानों को आग लगा दी गई भीषण विनाश हुआ। हज़ारों लोग बंदी हो गये। इन बन्दियों को नगर से दूर जाकर एक बंदी शिविर में रखा गया। उन्हें न तो खाने को ठीक भोजन और न ही पहनने के लिये कपड़ा दिया जाता। राजौरी पर छ: मास तक आक्रमणकारियों का अधिकार रहा और 1948वीं वैशाखी (13-14 अप्रैल) का भारतीय सेना कर्नल यदुनाथ सिंह की कमान में, राजौरी में प्रवेश किया। भागते हुए आक्रमणकारियों ने, लगभग दस हज़ार निर्दोष नागरिकों को मौत की नींद सुला दिया। भारतीय सेना ने जब राजौरी नगर में प्रवेश किया तो हर तरफ शव-ही-शव बिखरे पड़े थे। इन शहीद नागरिकों की पुण्य स्मृति में, राजौरी नगर में दरहाली नदी के किनारे पर 'बलिदान भवन' बनवाया गया है। इस स्मारक में, इन भीषण घटनाओं के चित्र भी है। 10 मग्घर (नवम्बर) को हर वर्ष बलिदान दिवस पर इन निर्दोष नागरिकों को श्रद्धांजलि अर्पित की जाती है। लगभग बारह वर्ष पूर्व, सेना ने भी अपनी इन कार्यवाहियों को दर्शाने के लिये, एक 'हाल-ऑफ फेम' का निर्माण किया है। यह यह एक पहाड़ी टीले पर स्थित है।

इसके बाद पीर बड़ेसर से लेकर भिम्बर गली तक सैनिक कार्यवाहियां शुरू हुई और ऑपरेशन पुंछ लिंक अप'' के अन्तर्गत भारतीय सेनाएं पाक-आक्रमणकारियों को धकेलती हुई भिम्बर गली को पार करके मैंढर तक जा पहुंची। दूसरी ओर से एक ब्रिगेड थन्ना मंडी, डेरा गली, बफलियाज़ से होता हुआ सुरनकोट पहुंच गया। फिर से दोनों ब्रिगेड आगे बढ़ते गए। और जो ब्रिगेड मेंढर पहुंचा था वह कृष्णा घाटी से होता हुआ पुंछ आ पहुंचा। दूसरा ब्रिगेड सुरनकोट से चल कर पुंछ की ओर अग्रसर हुआ। 12 अगस्त को 'आप्रेशन' लिंक-अप' का काम, सम्पन्न हुआ; जब पुंछ-मैंढर और सुरनकोट के तीनों ब्रिगेड आपस में आ मिले। पुंछ नगर के सामने कनुइयां पहाड़ी की लड़ाई में, डोगरा-सेना के कर्नल हीरानन्द ने अपनी छोटी-सी टुकड़ी के साथ, शत्रु को खदेड़ दिया। इस लड़ाई में वे घायल

हो गए। पुंछ की जनता ब्रिगेडियर प्रीतम सिंह को "सेवियर आफ पुंछ" के नाम से, याद करती है।

इस क्षेत्र का विस्तृत ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक धरातल, इस बात को प्रतिबिम्बित करता है, कि यहां पर सदा सह-अस्तित्व, प्रजातन्त्र, साहस, एवं वीरता के मूल्यों को सींचा गया है। इस क्षेत्र का इतिहास एवं सांस्कृतिक निधि, इतनी समृद्ध है इसे खोजने के लिये, निरन्तर प्रयास की आवश्यकता है। प्रस्तुत लेख के इन तथ्यों को मात्र संकेत समझा जा सकता है। □

संदर्भ—

1. अलैग्जेंडर द ग्रेट, मिलट्री स्टडी : अर्जुनदास मलिक।
2. 'राजतरंगिनी' आरल स्टाईन।
3. ट्रेवल्ज़ आफ ह्यूनत्सांग :
4. तारीख डोगरा देस : नरसिंह दास नरगिस।
5. पुंछ तारीख और सकाफत के आईने में : खुशदेव मैनी।
6. तारीख-ए-किश्तवाड़ : गुलाम मुस्तफा का इशदत।

लद्दाख का बौद्ध परिप्रेक्ष्य

□ डॉ० प्रेमसिंह जीना

कालान्तर में लद्दाख कई नामों से जाना जाता रहा। चीनी यात्रियों ने इसे खा-च-पा तथा मर-युल नाम से पुकारा। चौथी पांचवीं शताब्दी के मध्य चीनी यात्री फाहियान मध्य एशिया के रास्ते भारत आया। उसने अपनी यात्रा वृत्तान्त में लद्दाख के लिये 'के-चा' (खा-च-पा) नाम दिया। 640 ई० में दूसरा चीनी यात्री ह्वेनसांग भारत भ्रमणार्थ आया। उसने लद्दाख के लिए 'मो-लो-पो' नाम दिया, जो कालान्तर में 'मो-चुल' से मर-युल' बन गया।[1] इसी प्रकार 10वीं शती में मंगोलों का तिब्बत से आगमन हुआ तब लद्दाख में तिब्बती भाषा एवं साहित्य का भी प्रचार हुआ। परिणामस्वरूप लद्दाख का नाम भोट भाषानुसार 'ला-दक्स' रखा गया। अर्थात् वह स्थान जहां पहुंचने के लिए कई दर्रों को पार करना आवश्यक होता है। या लद्दाख वह स्थान है जहां कई दर्रे पाये जाते हैं। शब्दार्थ के अनुसार इसे निम्नवत् समझा जा सकता है।

ला = दर्रे
\+
दक्स = स्थान } ल + दक्स = लद्दाख (दर्रों का स्थान)

विदेशी विद्वानों ने लद्दाख को अपने ढंग से परिभाषित किया तथा इसका 'चन्द्रमा' की कल्पना के साथ जोड़ दिया जैसे :—

1. मून लैण्ड
2. ब्रोकन मून

परन्तु आज लद्दाख नाम ही प्रचलन में है।

लद्दाख संसार में सबसे ऊंचाई पर स्थित है। यहां जनसंख्या का घनत्व भारत में सबसे कम है। जब भारतवर्ष से बौद्ध धर्म का पलायन हो रहा था तब लद्दाख के इन थोड़े से निवासियों ने बौद्ध धर्म की अविछिन्न परम्परा को अपने हृदय से लगाये रखा। आज भी विभिन्न राजनैतिक एवं सामाजिक परिवर्तनों के पश्चात् लद्दाख में यह धर्म पर्याप्त फला-फूला हैं।

लद्दाख में बौद्ध धर्म का प्रवेश सम्राट अशोक के शासनकाल में हुआ होगा। जैसा निम्न प्रश्नों के उत्तर से स्पष्ट होता है।

1. लद्दाख में बौद्ध धर्म का प्रवेश कब हुआ ?
2. लद्दाख में वौद्ध धर्म का प्रवेश किन परिस्थितियों में और कैसे हुआ ?

उक्त प्रश्नों का उत्तर निम्न तथ्यों के आधार पर दिया जा सकता है।

पाली साहित्य में हिमालय कों हिमवा, हिमबच नामों से सम्बोधित किया गया है। हिमवा अथवा हिमालय में `0 झीलों का वर्णन आया है, जिनमें प्रत्येक की लम्बाई, चौड़ाई और गहराई 150 मील की बतलाई गई है। इनके नाम अनोतत्दह कण्डमुण्ड, रथकार आदि हैं। इन पर सूर्य की किरणों का प्रभाव नहीं पड़ता।[2] उक्त उदाहरण से ज्ञात होता हैं कि सम्भवत: 50 झीलों में से कुछ झीले लद्दाख की हों, क्योंकि पेंङगोंङ, छो-भो-रि-रि आदि बड़ी-वड़ी झीलें लद्दाख में ही हैं।

पाली साहित्य में अनोतत्दह झील का इस प्रकार वर्णन मिलता है। यह झील मान-सरोवर के समीप स्थित है। इस तथ्य से भी यह प्रमाणित हो जाता है कि पालि साहित्य में कहीं न कहीं लद्दाख का उल्लेख अवश्य है।

पाली के ग्रन्थ समन्तपासदिका से विदित होता है कि सम्राट अशोक ने मोगति पुत्र तिष्य की अध्यक्षता में सम्पन्न तृतीय संगीत के पश्चात् धर्म मर्मज्ञ आचार्यों को बौद्ध धर्म प्रचार हेतु चतुर्दिक भेजा। आचार्य मज्झान्तिक कश्मीर और गान्धार तथा मज्झिम नामक भिक्षु हिमवान् प्रदेश में गये। मज्झिम सम्भवत: लद्दाख पधारे होंगे।

महाराजा अशोक के शायंकाल में पांद्रेठन कश्मीर की राजधानी थी। नथा उसके समीप सीमान्त क्षेत्र शुद्भावन का था। जहां बौद्ध भिक्षु साधनारत रहते थे। सम्भवत: शुद्भावन लद्दाख हो, क्योंकि शुद्भावन का सारा क्षेत्र जंगलमय था। कुछ वैज्ञानिक अन्वेशकों के आधार वर यह कहा जा सकता है कि खालसी से जाङसर तक का क्षेत्र प्राचीन काल में जंगल से युक्त था। यहां स्कीङ, हि न, शेर आदि जंगली जानवर रहा करते थे। तत्कालीन जन-जातियों के ये जानवर मुख्य भोजन हुआ करते थे। आज भी इन जन-जातियों द्वारा बड़े-बड़े पत्थरों,तथा चट्टानों पर शिकार खेलते हुए मनुष्यों के चित्र उत्कीर्ण हैं। इनमें धनुष एवं बाण एवं स्कीङ के विभिन्न चित्र मुख्य हैं।

कुशीनगर स्तूप खनन के पश्चात् स्वस्तिक चिन्ह मिले। इसी प्रकार स्वस्तिक चिन्ह हमारे देश में कई स्थानों में मिले है। वे या तो बुद्धमूर्ति के पैर में मिले हैं या चैत्यों में

शुभ के द्योतक के रूप में बनाये गये थे। इन चिन्हों से ज्ञात होता है कि ये अशोक अथवा कुषाण के काल में बनाये गये होंगे। लद्दाख का लामायुस बौद्ध मठ जो मुंङडुङ का अपभ्रंश है। भुङ-डुङ का अर्थ स्वस्तिक से लिया जाता है। सम्भवत: लामायुरू गोनपा केरवादी बौद्ध धर्म से प्रभावित हो जो कालान्तर में 11वीं शती के पश्चात् महायानी बौद्ध परम्परा के अनुसार विकसित की गई हो।

ईसा की चौथी शताब्दी में फाहियान खोतान से यारकन्द होते हुए लद्दाख आये थे। ऐसा समझा जाता है कि फाहियान स्कर्द से होते हुए कारगिल के निकट सरयू नदी के ऊपर बने हुए पुल पर से लद्दाख आये। यह मार्ग अन्य मध्य एशिया के मार्गों की तुलना में छोटा है। आगे चलकर यह मार्ग पुरुषपुर होते हुए तक्षशिला की ओर जाता था। फाहियान जब उक्त नदी पर बने हुए पुल को पार करके लद्दाख में पहुंचे तब लद्दाख के लोगों ने उनसे निम्न प्रश्न किये —

"मान्यवर कृपया बतलायें आप भारत देश किस कार्य हेतु जा रहे हैं? क्या भारत से बौद्ध धर्म पूर्व चीन देश गया? यदि हो तो कैसे और कब?" फाहियान ने उत्तर दिया —

"मैं भारत देश बौद्ध-धर्म एवं दर्शन का अध्ययन करने जा रहा हूं। चीन देश में बौद्ध धर्म कब और कैसे आया? यह बताना कठिन है। चीन के लोगों का मानना है कि भारत के भिक्षु भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के तीन सौ वर्ष पश्चात् सूत्र व विनय के ग्रन्थों व मैत्रेय बोधिसत्व की मूर्ति लेकर इसी मार्ग से होते हुए कुछ भिक्षु चीन पहुंचे थे, जिन्होंने बाद में बौद्ध धर्म का चीन में प्रचार किया।"

इस वक्तव्य से स्पष्ट होता है कि लद्दाख में भी बौद्ध धर्म का आगमन ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में कश्मीर के माध्यम से हुआ होगा।

सम्राट अशोक के पश्चात् भारत का उत्तर-पश्चिम भाग ग्रीक शासक मिलिन्द के अधीन था। इसका काल ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी का माना जाता है। इसके शासन काल में बौद्ध धर्म का प्रचार सम्पूर्ण हिमालयी क्षेत्र में हुआ। अत: लद्दाख क्षेत्र इसके प्रभाव के कदापि अछूता नहीं रह सकता।

द्वितीय शताब्दी में कनिष्क के शासनकाल में बौद्ध धर्म का लद्दाख में पर्याप्त विस्तार हुआ। कनिष्क के शासनकाल में बौद्ध धर्म मध्य एशिया तक विस्तृत था। इन्हीं के शासन काल में महायान मत का उदय एवं विकास हुआ। कश्मीर घाटी में चौथी संगीति के पश्चात् बौद्ध विद्वान लेह के मार्ग से मध्य एशिया के विभिन्न स्थानों में गये। वहां जाकर इन लोगों ने स्थानीय जनता को महायान का पाठ पढ़ाया। उस समय जाङस्कर तथा लद्दाख का निचला हिस्सा कनिष्क के अधीन था। अत: कनिष्क ने अपने वंश के तीन राजाओं के समान जाङस्कर में अपने नाम से कनिष्क स्तूप का निर्माण किया। यह स्तूप तीन मंजिल का है। इस स्तूप से थोड़ी दूर पर उत्तर-पश्चिम दिशा में पांच मूर्तियां हैं, जो पुस्तर पर उत्कीर्ण है तथा जो गान्धार कला का नमूना प्रस्तुत करती है।

चौथी-पांचवीं शताब्दी में फाहियान खोतान से होता हुआ 'कीचा' आया। उन दिनों कीचा का राजा "पंचवर्ष" उत्सव का आयोजन कर रहा था। इस महोत्सव का आयोजन प्रत्येक पांच बर्ष के पश्चात् किया जाता था। राजा और उनके मन्त्रिगण बौद्ध उपासना के भिक्षुओं की पूजा करते थे। यह समारोह वसंत ऋतु में बहुत दिनों तक चलता था। इस तरह के समारोह सम्राट हर्ष के समय अर्थात् सातवीं शताब्दी तक मनाये जाते थे। सम्भवत: कीचा लद्दाख में ही कश्मीर के साथ लगा हुआ स्थान हो, जहां करगिल के रास्ते से अथवा द्रास से होते हुए पहुंचा जा सकता था।

इस प्रकार सम्राट के काल से दसवीं शताब्दी तक लद्दाख के सम्बन्ध भारत के साथ अटूट थे। अधिकांश भारतीय बौद्ध विद्वान पडित लद्दाख के रास्ते तिब्बत गये तथा उन्होंने बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार किया। इनमें आचार्य पद्मसम्भव, आचार्य नरोपा, आचार्य दीपंकर अनीश आदि प्रमुख हैं। तिब्बत से भी बौद्ध मनीषि लद्दाख के रास्ते कश्मीर तथा भारत के अन्य स्थानों में बौद्ध दर्शन के अध्ययन हेतु आये। इनमें लोचावा रिनछेद जाङ्यो, लामा तक चन रस्पा, धनमा कुङगा ट्रक्पा आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार लद्दाख भारतीय आचार्यों एवं तिब्बती मनीषियों की कार्यस्थली रही। जब भारत से बौद्ध धर्म का पलायन हो रहा था तब इन लोगों ने लद्दाख एवं तिब्बत में इस धर्म को सुदृढ़ किया।

आज लद्दाख में उक्त बौद्ध तिब्बती मनीषियों के कारण महायान के चारों सम्प्रदाय से सम्बन्धित गोनपाएं हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि लद्दाख में बौद्ध धर्म का प्रवेश ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में कश्मीर के रास्ते से हुआ 10वीं शती के बाद तिब्बत के बौद्ध भिक्षुओं ने यहां महायान धर्म का प्रसार किया।

सन्दर्भ

Cunnigham, Alexander : 'Ladak', Sagar Pub. New Delhi, 1853/1977, 2·3.

अङ्‌गुचर निकाय (4-101)

बुद्ध की चारिकाएं—510 भगत सिंह उपाध्याय, नया समाज, जून 1956.

कौशिक, सत्यदेव : 'लद्दाख में बौद्ध धर्म का प्रवेश', निरंजना, भाग 9, बौद्ध गया, 1988, पृ० 26·

वही

ट्रैवल्स आफ फाहियान—एच० डी० माइल्स।

कौशिक, सत्यदेव, वही, पृष्ठ 28.

वही

वही

कृति आकलन

मध्ययुगीन दो नाट्य कृतियां 'दिनन के फेर'

□ रेवती रमण शर्मा

डा० शिबन कृष्ण रैणा, कश्मीरी साहित्य के हिन्दी भाषा में श्रेष्ठ अनुवादक के रूप में विख्यात हैं। अनुवाद के माध्यम से ही हिन्दी जगत कश्मीरी साहित्य और संस्कृति का रसास्वादन और उसे आत्मसात कर सका है। इन दो भाषाओं के संगम कराने में डा० रैणा का विशिष्ट और सराहनीय योगदान रहा है। अच्छा अनुवाद रचना की पुनर्सर्जना मानी जाती रही है। इस पुनर्रचना से ही साहित्य समृद्ध हुआ है। परन्तु इन दिनों डा० रैणा हिन्दी के मौलिक कर्म से सम्पृक्त है। आलोच्य रेडियो नाट्य कृति 'दिनन के फेर' इसी की परिणति है।

डा० रैणा ने इस कृति के माध्यम से मध्यकाल के दो महत्वपूर्ण कवियों रहीम और हब्बाखातून के जीवन के उस काल को प्रदर्शित किया है, जिसमें उन्होंने अपने समय की सर्वोच्च ऊंचाइयों को छूने के बाद यकायक उन्हें जीवन की कठोर वितृष्णा, दुःख, सन्ताप और अपमान के अतल में उतरना पड़ा था। एक ओर इन दोनों जनकवियों की काव्य-निर्झरी से जन मन आप्लावित हो रहा था तो दूसरी ओर उन्हें समय की गर्दिश का शिकार होना पड़ रहा था। इन लघु नाट्य कृतियों का यही अभीष्ट है और यही 'दिनन के फेर' उक्ति का सही अर्थ प्रकट करता है।

अकबर महान के नवरत्नों में से एक थे अब्दुर्रहीम खानखाना। आम जनता उन्हें एक कवि एक श्रेष्ठ सूक्तिकार और दानी के रूप में ही अकसर याद करती है। किन्तु लेखक ने इन सबके अतिरिक्त उनका दूसरा महत्वपूर्ण और प्रबल पक्ष, उनकी बहादुरी और महान योद्धा के रूप में प्रकट किया है। अकबर को जब यह सूचना मिली कि गुजरात में उसकी सत्ता के विरूद्ध बगावत हो गई है और अकबर को जब कोई दूसरा योद्धा

इन विद्रोहियों को कुचलने के लिए नहीं मिला तो अल्पवय के इस बहादुर योद्धा रहीम को मात्र तीन हजार की छोटी सेना के साथ गुजरात भेज दिया गया। रहीम ने शत्रु की बीस हजार की विपुल सेना से लोहा लिया और विजय का सेहरा अकबर के सर बांध दिया। फिर तो जैसे युद्धों का तांता लग गया। एक के बाद एक युद्ध में रहीम विजयश्री प्राप्त करते चले गये। अकबर ने अपने महान सेना नायक और रिश्ते में मौसी के बेटे (भाई) को पाटन की जागीर और खानखाना के पद से नवाज़ा। अकबर संस्कृति पुरूष भी थे। उनके नवरत्नों तानसेन, कोका, फैजी, बीरबल और रहीम आदि थे। सब अपने-अपने फन में माहिर थे। किन्तु रहीम की बात और थी वह शूरवीर होने के साथ-साथ एक बड़ा जनकवि और अरबी फारसी का विद्वान भी था। अकबर की सभाओं में उसने अनेकों बार पाण्डित्य और विद्वता का परिचय दिया था।

यह नाटक का सुखद पूर्वार्ध है। उत्तरार्ध में समय की गति सब कुछ को उलट देती है। अकबर के बाद उसका बेटा शाहजहां सिंहासनारूढ़ होता है। रहमदिल, संवेदनशील कवि उन चापलूसों, दरबारियों के हाथों बेरहमी से शिकस्त खाते हैं जो उसकी (रहीम) की प्रसिद्धि को बरदाश्त नहीं कर पाते। रहीम के दो बेटे युद्ध में शहीद होते हैं। शेरखां, शाहजहां की शह से, या उसे (शाहजहां) को प्रसन्न करने की गरज से रहीम के तीसरे बेटे दारा का सिर एक थाली में रख, कपड़े से ढक कर भेज देते हैं। रहीम को कहा जाता हैं कि युद्ध में उसके पुत्र की विजय से प्रसन्न जहांगीर ने उसे तरबूज भेजा है। रहीम सरोपेश हटाता है तो अपने अन्तिम लाडले बेटे का कटा सिर देख कर साजिश का शिकार होता है। यही एक कवि की वितृष्णा, बिडम्बना और उसके दिनों का फेर है। इस सबका कारण परवेज कर रहीम का साथ देना था, जो नूरजहां को आपत्ति थी। तभी इस जनकवि ने कहा कि, "रहिमन चुप हुये बैठिये देख दिनन के फेर" और सन् 1627 में वह सदा के लिये चुप्पी साध गया।

दूसरी नाट्य कृति हब्बा-खातून में भी वैसा ही सब कुछ है जो रहीम के साथ घटित हुआ था। हब्बा अपने पति, सास आदि से प्रताड़ित, पीड़ित हो लकड़ियां बीन कर लाती थी। एक दिन जब वह सुरीली आवाज़ में अपने स्वरचित गीत गा रही थी, उसकी मुलाकात तत्कालीन कश्मीर सम्राठ यूसुफ शाह से हो जाती है। यूसुफ उसे अपने महल में ले जाता है और अपने दिल तथा महलों की मलिका बना देता है। यूसुफ स्वयं शायर थे इसलिए शायरा, गीतकार और गायिका हब्बा खातून को दिल से चाहते थे। पर खुशी के ये दिन भी ज्यादा नहीं रहने थे। अकबर महान कश्मीर के इस बादशाह की आज़ादी को बरदाश्त नहीं कर सका और राजा भगवानदीन की अगुवाई में यूसुफ शाह पर आक्रमण करा दिया। संगीत प्रेमी, जंग के मैदान में हार गया। उसे अकबर ने सम्मानपूर्वक अपने पास बुलाया और कैद में डाल दिया। हब्बा खातून अपने प्रेमी को तलाशते रोती भटकती रही। वह अपने स्वरचित दर्दीले गीतों को गाती हुई, उसी दैन्यावस्था में अपने गांव चली गई। यह जीवन के उत्कर्ष का पराभव और रहीम की तरह 'दिनन के फेर' था। सारत: ये दोनों ही नाट्य कृतियां दु:खान्त हैं।

अब हम नाटकों की भाषा पर आते हैं। रहीम अरबी और फ़ारसी के उद्भट विद्वान थे। लेकिन उन्होंने अपनी कविता की भाषा को जन-जन की भाषा हिन्दी को ही चुना।

इसी प्रकार जन-कवयित्री हब्बा खातून ने अपनी कविता की भाषा कश्मीरी को चुना। यही कारण है कि ये दोनों कवि कालतिरोहित होकर आज भी हर व्यक्ति की जुबान पर हैं। यदि ये ऐसा न करते और जनभाषा को अपनी कविता का आधार न बनाते तो ये भी कहीं काल के गर्त में पड़े होते। डाँ० रैणा ने इन नाटकों की भाषा में अरबी और फ़ारसी के कुछ आम प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया जो मध्यकालीन मानसिकता के अनुरूप हैं। भाषागत सौष्ठव अन्त तक बना रहता है। नाटक किसी भी तरह की उबाऊ प्रतीकात्मकता से मुक्त है। जहां तक संवाद का प्रश्न है, वे बहुत चुटीले और प्रभावोत्पादक है। नाटक का संवाद पक्ष उसके कथ्य से भी महत्वपूर्ण होता है, एक तरह से संवाद नाटक के आधार होते हैं जो उसमें जान फूंकते हैं। इस बात का लेखक ने विशेष ध्यान रखा है। इन नाटकों में एक बात बहुत आकर्षित करती है कि इन कवियों ने अपने समय की जड़ता और अभिजात्य को तोड़ा है। साथ ही डा० रैणा ने मध्ययुग की विडम्बना को समकालीनता से जोड़ा है। नाट्य कृतियां पढ़ने और मंचन के सर्वथा योग्य हैं।

लेकिन दूसरी नाट्य कृति को पढ़ते हुए बार-बार यह अहसास होता है कि लेखक के स्वयं के शब्दों के मुताबिक "गीतों की रानी हब्बाखातून का एक भी गीत इसमें शामिल नहीं किया गया है। इससे नाट्य कृति और समृद्ध होती। अन्त में लेखक द्वारा हब्बा-खातून की एक कविता का अनुवाद प्रस्तुत है :—

"गुलदस्ता सजाया है मैंने तेरे लिये,
इन अनार पुष्पों का आनन्द ले ले।
मैं धरती, तू आकाश है मेरा,
आवरण तू मेरे रहस्यों का।
मैं इक व्यंजन, अतिथि तू प्यारा,
इन अनार पुष्पों का आनन्द ले ले।"

□

कृपया शुल्क भजते समय ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें।

—सं०

व्यंग्य

हुआ यों कि...

□ शिव रैना

हुआ यों कि...गरीबी का 'भवसागर' पार करते हुए, हमारे वो दफ्तरी-साथी भी कार-कोठियों के स्वामी बन गए, जो हम से दस साल बाद, नौकरी में आए थे। हमारी डिग्रियों और योग्यता को, कोई अफसर घास नहीं डाल रहा था। मक्खनबाज़ी, पिछले दरवाज़ों, थैलियों और बोतलों की तिकड़मी दुनिया से, हम कोसों दूर थे। दशकों से, एक ही ग्रेड में सड़ रहे थे। हमारे जीवन का घिसा-पिटा ढर्रा, ठीक उस सर्द पगडंडी से जा जुड़ा था, जिसे लोग 'संतोष' या 'समझौता' कहते हैं। हमने इसी ज़िन्दगी को, अपना मुकद्दर समझ लिया था। पड़ोसी, सम्बन्धी और मित्र—बारी-बारी, दूर हो गए थे। चाय और नींबू-पानी वाली हमारी शाकाहारी-दोस्ती, शायद किसी को कबूल न थी। उन्हीं दिनों बिन पानी की तरह सूनी ज़िंदगी में, एक और घटना घटी। हमें परिवार में अचानक एक मौत का सामना करना पड़ा। सीधे-सादे जीवन का यह एक ऐसा भूंचाल था, जिसने हमें एक साल में ही, अधमरा कर दिया। आर्थिक झटका भी लगा। दिलो-दिमाग में मृत्यु का डर समा गया। उठते-बैठते। खाते-पीते। हर समय/धर्मराज, यमदूत और स्वर्ग-नरक दिखाई देने लगे। हमारी मानसिक दशा चरमराने लगी। उधर, भाग्य एक कोने में खड़ा, मुस्करा रहा था। उसे कुछ और ही मंजूर था। "चारों धाम की कठिन तीर्थ-यात्रा" करके लौटीं, हमारी प्यारी माता जी को अचानक एक ऐसे जानलेवा रोग ने आ घेरा, कि हमारे जीवन के सोते सूख गए। अस्पतालों की भयंकर रातों ने, मां की 'कहावती आत्म बलिदानी रातों वाला उपकार', छीन लिया। सचमुच, भयंकर सर्दी-तूफान में पूरी-पूरी रात अकेले, गम्भीर मां के साथ अस्पतालों में रहना, हंसी-खेल नहीं था। खैर! मामूली सुधार होने पर, बीमार मां को हम घर पर ले आए। मगर माता जी का रोग ऐसा महंगा था, कि अब

दिन-रात, उनकी सेवा-सुश्रूषा के लिए जागना भी पड़ता था। यह एक ऐसी परीक्षा थी, जिसे पास करना, एक इकलौते जवान बेटे के लिए भी, आसान न था। मगर परीक्षा आवश्यक थी।

एक हफ्ते की तकलीफ के बाद, हमने माता जी के रोग के साथ पूरी रात जागना, सीख लिया। पूरे मकान की बत्तियां जला कर, हम सारी रात, आंगन में चक्कर लगाते। रेडियो पर रूसी/फ्रांसीसी/प्रोग्राम सुनकर, सिर धुनते। पानी और चाय पीते। व्यायाम करते। मालिश करते। कभी कुछ लिखते। कभी कुछ पढ़ते रहते। गली में पहरा देने वाले हर तरह के चौकीदारों की, हरकतें देखते। पशुओं को, सूनी-गलियों में लड़ते-भिड़ते देखते। 'आकाश-गंगा' के सारे सितारे, हमारे दोस्त बन गए। चांद, बड़ा भाई लगने लगा। पूरी रात हमें, कतरा-कतरा करके, पिघलती दिखाई देने लगी। भरा-पूरा रतजगा करने से; अब हम लोगों को यह भी आसानी से बता सकते थे, कि कौन-सा सितारा कितने बजे दिखाई देता है। और आकाश की यात्रा पूरी करके, वो सितारा कितने बजे छुट्टी करता है। हम फूल-पत्तों को भी खिलता-बढ़ता देखते। हमने पढ़ा था, कि 'नींद को जीतने' के कारण ही, महाभारत के हीरो अर्जुन को, 'अर्जुन' कहा जाता है। एक हफ्ते के ही 'सफल रतजगे' के बाद, हमारा "चौदह कैरेट" का शरीर, खुद को 'अर्जुन' समझने लगा। सचमुच, हमारी बीमार मां और हमारे सिवा रात के समय, पूरा शहर नींद की गहरी गोद में होता होगा। रतजगे की उम्र, एक साल हो गई थी। हमने खाने-पीने, कपड़े धोने, कपड़े प्रेस करने, शेव व सफाई करने, नहाने-धोनेके अलावा दैनिक पूजा-पाठ के काम भी; रात ही को एडवांस करने, शुरू कर दिए। माता जी की भीषण बीमारी को, हमने अपनी देवी-जैसी मां का एक 'चुनौतीपूर्ण आशीर्वाद' समझकर; कबूल कर लिया। रतजगे के कारण, हमारी कई सोई-शक्तियां, अंगड़ाई लेकर, जाग पड़ीं। हमारी कार्य-क्षमता दुगुनी हो गई। यानि, 24 घण्टों में से, लगभग 22-बाईस घण्टे, हम रचनात्मक काम करने लगे। इन कामों में, ला-इलाज माता जी की पूरी-सेवा, उनके कपड़ों- लत्तों की ज़रूरी धूलाई-सफाई, दवा-दारू, मालिश, इत्यादि भी, शामिल थे। यही नहीं, माता जी की ओर से किए जाने वाले दैनिक पूजा-पाठ और दान-जैसे काम भी हम रात को ही, पूरे करने लगे।

एक रात अचानक, दिमाग में एक सूरज-सा फटा। तन-मन में उजाला-सा भर गया। खयाल आया, कि रात की प्रदूषण-मुक्त और शान्त फिज़ाओं में, कोई ठोस रचनात्मक कार्य किया जाए! बस, फिर क्या था? बीमार माता जी के चरणों को छूकर, हमने अपना रात्रिकालीन समय, तुरन्त लिखाई-पढ़ाई की तरफ मोड़ दिया। कई तरह के ज़रूरी इम्तेहानों की तैयारी भी, शुरू कर दी। एकाध, नये विषयों की, किताब लिखने का काम भी, हाथ में ले लिया। एक से बढ़ कर एक खयाल, सामने आने लगे थे।

जिस परिस्थिति को हम थोड़ी देर पहले 'अभिशाप' समझ रहे थे, वही परिस्थिति अब एक 'वरदान' बन गई। पूरी रात जागने से, चौकीदार-सी सतर्कता और सैनिक-जैसी

सुरक्षा-शक्ति, तन-मन में जागी। मौत, चोर-लुटेरों अपराधों और आफतों का जन्मजात डर, 'छू-मन्तर' हो गया। हमने अपनी दुर्बल देह में, सचमुच बिल्कुल एक नये इन्सान को महसूस किया। हमारे अन्दर दोहरी-शक्तियों और दोहरे-वक्तों की शानदार क्षमताओं वाला, वो इन्सान जागा था; जो भ्रष्टाचार से दूर रह कर भी, सब कुछ पा सकता था। भाग्य ने, चिर-प्रतीक्षित तरक्की और खुशहाली के लिए, रतजगे का यह एक अजीब-सा पॉसपोर्ट, हमें भेजा था। रोगी की सफल सेवा का आनन्द/लोगों की प्रशंसा, मां का शुभ आशीर्वाद, और मुंह ज़ोर अफसरों की भी हमदर्दी—सब कुछ एक साथ, हमें मिला। मां के साथ जाग कर हमने जो भी लिखने-पढ़ने का मौलिक काम किया: उसकी बहुत दूर-दूर तक प्रशंसा हुई। एक प्राँइवेट टेलीविजन-कम्पनी को जब हमारे मां के लिए दिन-रात जागकर भी ठोस काम कर दिखाने की खबर मिली, तो उसने हमारे पूरे जीवन पर एक 'वृत्त-चित्र' तैयार कर डाला। इस दिलचस्प चित्र में, हमारी बीमार माता जी को प्रमुख रूप से दिखाया गया था।

इस प्रकार, इस कुदरती रतजगे वे हमारे ऊबड़-खाबड़ जीवन के, धारे ही मोड़ दिए। हर आदमी हमें हैरानी से देखता था, कि यह आदमी पूरी रात एक कुर्सी पर बैठ कर; इतना कुछ कैसे कर लेता होगा ? रतजगे का हमें, एक और फल भी प्राप्त हुआ। वैसे, महंगी बोतलों और सिफारिशी तरक्की के नशे में डूबे, जो-जो भी संगी-साथी, हमें दीन-हीन समझ कर हमसे किनारा कर चुके थे, वो सभी दोस्त चौगुने प्यार व मुहब्बत के साथ, लौट आए। हमारी रूखी-सूखी दुनिया में, मनोवांछित बहार आ गई।

एमरजेंसी में एकाध रात जाग कर ही, बीमार हो जाने वाले स्त्री-पुरुषों के लिए, हम सचमुच एक अजूबा बन गए। निरन्तर रतजागे से, न तो हमें कमजोरी महसूस हुई। दफ्तर की व्यस्त कुर्सी पर नींद आई। न आंखों के गिर्द (थकावट के) स्याह हलके पड़े न कभी बदन टूटा। और न कभी चुस्ती-फुर्ती में फर्क पड़ा पड़ा। बस, घोड़े वाली हालत थी। जिस तरह घोड़ा-खड़े-खड़े ही झपकी ले लेता है, उसी तरह हम "चलते-फिरते ऊंघ लेते" थे। लोग कहते हैं, कि बदपरहेज़ी से सेहत का सत्यानाश होता है—लेकिन नींद से किनाराकशी करके और प्रकृति के प्रतिकूल चलकर, फिलहाल, हमें लाभ ही हुआ। यह वैसा ही लाभ था, जो अक्सर दोनों हाथों से एक-सा काम लेने वालों को मिलता है, कि जो लोग दोनो हाथों से, एक-बराबर, लिख सकते हैं या अन्य पेशावाराना काम ले सकते हैं उनके दिमाग के बेकार-भाग भी, खुदबखुद सक्रिय हो उठते हैं दिन-रात के चौबीस घण्टों का 'जूस' निकाल कर, हमने सचमुच, अपनी कर्मठता का कायाकल्प किया। यह सब, धरती से भी बड़ी, हमारी प्यारी मां का आशीर्वाद था। और शायद "दोहरी कर्मठता" का ही फल था, कि आठ-दस वर्षों बाद, बीमार मां जी भी उठने-बैठने के योग्य हो गईं! परन्तु चौबीस घण्टों की चुस्ती और सक्रियता का हमारा "दैनिक बैंक-बैलेंस," हमारे जीवन का अटूट अंग बन गया। □

कवितायें

उसी शहर में

□ मनोज शर्मा

○

उसी शहर में जहां
फलांग-दो फलांग से आसरा लेकर
चमकते हैं सुनहरी कंगूरे
भुरभुराती ईंटों में बचे खड़े हैं जहां भूरे-भूरे
किले, रनिवास, स्मारक कुछेक खास
वही शहर जो पलता-पसरता चला गया है
जैकारा-दर-जैकारा
वहीं हैं वे!

○

वे हैं और भिंची आंखों से बूढ़ी कहानियां सुनाते हैं
वे ठीक हैं कि जैसे
दूसरे शहरों के अधेड़
जो ज़मीन के तेज़ी से गायब होते चले जाने को लेकर
बेहद त्रस्त हैं
जो खुले में सोना और बेहतर समझते हैं आज
कि उदाहरण हौसले संग जिनके सपने में उतरता है आज भी
पूरा चांद
सकून की हद तक ज़िन्हें अच्छा लगता है

बहता जल
और जो घर की चिकचिक के बावजूद
अकसर
मछलियों को आटे की गोलियां डालते मिल जाते हैं !



वे जो किसी भव्य भवन को देख
ठिठक कर खड़े हो जाते है
और साधिकार कहते मिल सकते हैं
कि इससे पूर्व तथा उससे भी पहले यहां क्या था...
काफी बच-बचाकर सड़क पार करते हैं वे
और पार पहुंच, कुछ देर तक
कमर पर हाथ रखे खड़े
खांसते-फांसते रहते हैं



इसके बावजूद
वे ही हैं कुशल पैदल चलने वाले
कुछ ज्यूं कि यों
उन्होंने ही ईजाद की हों पगडंडियां
शायद इसीलिए, उन्हें ही
वृक्षों की छाया में खड़े होना/सुस्ताना आता है ।



चमकते कंगूरों वाले इस कर्माडिटी शहर में वे
तमाम उठक-बैठक, नोक-झोंक, भागदौड़, छीनाझपटी
——मारकाट वगैरह के चलते
पक्के घराने के किसी राग की तरह
बेहिचक बने हुए हैं !



वे हैं इसीलिए
शहर में क्या हूआ है एक शहर और
वे हैं इसीलिए
शहर को किसी दूसरे कोण से भी देखा जा सकता है ।
अरे !
तभी तो हुई है यह कविता सम्भव



काश ! कहीं……

□ नरेश कुमार उदास

कहीं, ऐसा होता
कि हम दोनों
तुम्हारे घर की
घुमेरदार पगडण्डियों से होते हुए
नीचे उतर आते
इन वृक्षों के झुरमुट में
और तुम बतातीं
उन विभिन्न पेड़ों की
प्रजातियों के विषय में
जिन पर लगेंगें-उगेगें
फूल और फल अभी
और उनके कारण भी बतातीं
जो असमय कुम्हला गए हैं पौधे
तुम सहसा
सूर्ख फूलों को
अपनी उंगलियों से सहलाते हुए
बतातीं-दिखातीं
चिड़ियों का वह घोंसला
जहाँ नवजात पक्षियों के मीठे स्वर
कानों में रस घोल रहे होते
तुम कभी तितलियों-भंवरों
उड़ते पक्षियों
और पिछली रात को
घनघोर बरसी वर्षा
पेड़ों के पत्तों पर ठहरी
बून्दों के बारे में बतातीं ।

□

मचल मचल जातीं
और कहतीं
देखो कबूतरों की गुटरगूं
और आवारा उड़ते बादलों के झुन्ड
कहतीं—
कितना खुला है आकाश
कितनी सुन्दर है यह धरती
और न जाने क्या-क्या कहतीं
कल्पनाओं के हिंड़ोले पे उड़तीं

और मैं
बिल्कुल हतप्रभ रह जाता
असीम प्रसन्नता से भर जाता
यह सोचकर—
यह देखकर
कि तुम कितने सालों बाद
अपने पाँवों से चलकर
आई हो संग-संग मेरे
और वह क्षण
कितना अलौकिक कितना अकथ
कैसा चिर आनन्द !
यह तुम जानती हो
या मैं जानता हूं।

□

आज रात

जबकि पसरा है सन्नाटा
सब दुबके पड़े हैं अपनी रजाईओं में
कहीं कोई पत्ता नहीं खड़खड़ाता
हवाएं हैं, कि थम गई हैं
सो रहा है जगत सारा
सपनों के संसार में
यहाँ तक, कि विचारों के घोड़े भी
थक कर
निढाल पड़े हैं
गहराता चला जा रहा है
सन्नाटा

तुम जाग रही हो
मन में
न जाने क्या-क्या लिए
और मैं जाग रहा हूँ
तुम संग बतियाता

हम दोनों
बुन रहे हैं
कल्पनाओं के जाल
रच रहे हैं साहित्य
तुम मुझ में खोज रही हो
कविताओं की नदी

और मैं
तुम्हारी कांपती-थरथराती आवाज को
गहरे आतमसात् कर रहा हूं
रात सरकती चली जा रही है
हमें नींद नहीं आ रही
और हमारी बातों का अन्तहीन सिलसिला
कब खत्म होगा
न जाने कब तक
अपने-अपने मन की बातें
बताएंगे
हम दोनों
आज रात ! इतनी रात गये

और जबकि......
अभी सुबह का कहीं कोई
अता-पता नहीं है

□

बिसात कन्धे पर

□ राग रंजन

सीलन भरी दीवारों की
दरारों में से फूटती हैं
हरी कोंपलें
खंडहरों के सन्नाटे में
खनक जाती है कभी कोई
खामोश पुकार,
स्याह रातों को
प्रतीक्षारत आंखों में
टिमटिमाता है कोई सितारा
बूढ़े चेहरों की
झुर्रियों में से झांकती हैं
मुस्कान की रेखाएं
बंजारा समय ठिठकता है,
मुस्कराता है
और बढ़ जाता है, आगे—
नये सवालों की
बिसात कन्धे पर डाले

□

ग़ज़ल

□ मृदुला अरुण

चन्द लम्हे मुस्कुराहट दे के मुझ को डर गया
हर नया परिचय मुझे कुछ और तन्हा कर गया

कैसा यह तूफान आया शहर में पिछले दिनों
मेरा घर पतझड़ की सूनी आहटों से भर गया

नाम ही सुनते रहे देखा नहीं कैसी है वो
घर के आगे से खुशी का काफिला अक्सर गया

मेरे पुरखों ने मेरे आंगन में बोया था जिसे
आखिरी पत्ता भी उस तुलसी का अब तो झर गया

वो सच्चाई का मसीहा उम्र भर मुफलिस रहा
नाम पर उसके बहुत जलसे हुए जब मर गया।

हमने अपनेपन का बदला इस तरह पाया मृदुल
गलतियां उसने करीं इल्ज़ाम मेरे सर गया। □

नयी कलम

ग़ज़ल

□ रामकृष्ण धर

दो कदम तो साथ चल कर देखिए
आप ही थोड़ी पहल कर देखिए

खा के ठोकर क्या सम्भलने का मज़ा
वक्त से पहले सम्भल कर देखिए

ज़िन्दगी रोशन है नूर-ए-इश्क से
इन अन्धेरों से निकल कर देखिए

खुद बदल देंगे यहां अपना मिजाज़
आप कांटों पर तो चलकर देखिए

दाग है न छुप सकेगा यह कभी
झूठ को चाहे मसल कर देखिए

दिल का खंडहर जी उठेगा फिर यहां
चन्द लम्हों को टहल कर देखिए

□

बूंद के दर्पण में

□ निदा नवाज़

मैं जब भी वहां जाता हूं
उसी कोने वाली मेज़ के
एक तरफ़ बैठता हूं
और ताकता हूं
अपने सामने की
खाली कुर्सी को
जिस पर कभी
तुम बैठती थीं
जाफरानी यादों की कलियां
खिल उठती हैं
कल्पना की देहलीज़ पर
तुम्हारे पांवों की आहट
सुनाई देती है
मेरे सामने तुम्हारी
दो ज़मुरदी आंखें
दिपदिपा उठती हैं
उलझने लगता हूं उनके
इन्द्र जाल में
फिर धीरे-धीरे
पूजा की थाली सा
चेहरा उभरता है

और माथे का टीका
जैसे आरती का दीया
तुम अपना हाथ
मेरे हाथ पर रखती हो कि जैसे
लोहे को छूता है पारस
'हर मुख' पहाड़ी से
पार्वती का आशीर्वाद लिए
कोई हवा का झोंका आकर
कमल की दो पत्तियों
पर बिछ जाता है।
और तुम्हारे दो कोमल होठों से
सरगोशियां फूटती हैं
बातों-बातों में
तुम रूठने लगती हो
कल्पना की देहलीज पर
मैं तुम्हारे जाने की आहट
सुनता रह जाता हूं
मैं चौंक जाता हूं और
अपने सामने की
खाली कुर्सी को ताकने लगता हूं
आंखों के आकाश से
टपकते पानी की बूंदें
हो जाती हैं तारे
और मैं
मेज़ पर टपकी
हर बूंद के दर्पण में
देखता रह जाता हूं
अपना अकेला होना
निपट, निस्संग, अकेला



कहानियां

क्या घर ! क्या परदेस !!

□ केवल सूद

वह बस-स्टैंड के शैड के नीचे उकड़ूं बैठा धीरे-धीरे अपना सामान ठीक कर रहा था।

सबसे पहले उसने अपने बैठने के लिए किसी पुराने लिहाफ़ का पुराना गिलाफ पैरों के नीचे बिछाया था। इसके बाद उसने एक गंदे से थैले में से डिटौल की शीशी निकाली थी जिसमें डिटौल की जगह लगता था कोई दवाई भरी है। दवाई की शीशी के पास ही प्लास्टिक का ढक्कन वाला डिब्बा रखा था जिसमें पानी भरा दिखाई देता था। इस डिब्बे के पास छुपी-सी एक रस्सी पड़ी थी। शायद नीचे का कपड़ा इसी रस्सी से बांधा गया था। पानी वाले डिब्बे के पास नीले रंग का टिफिन था जिसका ढक्कन सफेद रंग का था।

यह सारी चीज़ें निकाल चुकने के बाद अब बिस्तर खोलने में लगा हुआ था। उसे ऐसा करते देखने पर ध्यान बरबस ही उसके हाथों की उंगलियों तथा लबी-लंबी बांहों की ओर चला जाता था। उसकी बांहें कितनी पतली थीं, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। उसकी हिलती हुई बांहों की कुहनियां बार-बार उसकी टांगों से छू जाती थीं। और ये टांगें कितनी पतली थीं, इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि वे उसकी बांहों से भी पतली तथा कमजोर थीं। इनमें कोई नुमायां चीज़ थी तो वह टखनों की हड्डियां थीं, इतनी बड़ी-बड़ी हड्डियां कि लगता था नीचे पिंडलियां हैं ही नहीं।

उसके शरीर का सबसे खूबसूरत भाग उसका चेहरा तथा सिर था। सिर के अगले भाग पर उसने मोटी मशीन फिरवा रखी थी पर पीछे के बाल खिचड़ीनुमा ज़रूर थे, पर थे घने।

वह अपने काम में इतना मग्न था कि उसे आस-पास की कुछ सुध न थी। या शायद उसमें इतनी शक्ति ही शेष न बची थी कि वह दो तरफ ध्यान दे सके। शायद इसीलिए उसने अपनी आंखें एक बार भी ऊपर नहीं उठाई थीं। उसकी आंखें कैसी थीं इसलिए इस बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता था। पर हां, उसकी नाक पर बरबस नजरें रुक जातीं थीं। वह उसके चेहरे का ही नहीं, उसके पूरे शरीर का सबसे खूबसूरत अंग थीं। उसकी नाक इतनी तीखी, सुतवां थी कि किसी ग्रीक देवता की भी क्या रही होगी! इससे सहज ही कल्पना की जा सकती थी कि कभी वह व्यक्ति निश्चित रुप से ही एक खूबसूरत नौजवान रहा होगा—लंबे कद, छरहरे बदन बाला एक खूबसूरत नौजवान।

अपनी नज़रें वह शायद इसलिए भी ऊपर नहीं उठा पा रहा था क्योंकि वह पुरानी यादों मे खोया-सा लग रहा था।

वह अच्छे खाते-पीते घर का लड़का था। उसके अतिरिक्त परिवार में मां-बाप तथा एक बड़ी बहन थी। और वह तीनों का लाडला था। बाप किसी फैक्टरी में इंजीनियर था। अच्छा वर्कर था, इसलिए मालिक उसे काफी मानते थे। फैक्टरी में ही किसी हादसे में बाप की मौत हो गई तो मालिकों ने परिवार को ना सिर्फ अच्छा मुआवज़ा ही दिया, बल्कि यह वादा भी किया कि लड़का जवान हो गया तो योग्यता अनुसार अच्छी नौकरी भी दे देंगे।

मां समझदार थी। मुआवज़े के रुप में मिला पैसा उसने बैंक में रखा। मकान का एक भाग किराए पर उठा दिया और इस प्रकार परिवार को आर्थिक संकट से बचा लिया। लड़की सुशील थी, पढ़ी-लिखी भी थी और उसका रिश्ता पिता के रहते ही तय हो गया था। लड़का रिश्तेदारी में से ही था और लड़की को पसंद भी करता था, इसलिए शादी में कोई दिक्कत नहीं हुई। शादी के साल भर बाद ही लड़के को उसकी मौसी ने अपने पास कनाडा बुला लिया।

मां को कनाडा से जब भी मिलता शुभ समाचार ही मिलता। वह परेशान थी तो बस लड़के की वजह से। लाड प्यार ने जहां उसे उद्दंड बना दिया था, वहां बुरी सगत ने आवारा। स्कूल पास कर कालिज में पहुचा तो उसके इन गुणों में और भी निखार आ गया। साहबज़ादे अच्छे-खासे नेता तो बन गये पर बी.ए. में लुढ़क गये। इस लुढ़कने का परिणाम यह हुआ कि किताबें उठा कर आलमारी में रख दीं और आवारगी का दामन पकड़ लिया। उसके ये तौर-तरीके मां को तो पसंद थे ही नहीं, मंजू को, जो उसमें थोड़ी-बहुत रुचि लेने लगी थी, भी अच्छे नहीं लगते थे। उसने अपना रास्ता बदल लिया तो साहबज़ादे अंदर से थोड़े टूटे। तंबाकू वाला पान तो खाते ही थे अब शराब में भी रुचि लेने लगे।

मां ने बेटे के ये लक्षण देखे तो उसी फैक्टरी का दरवाज़ा जा खटखटाया, जहां कभी उसका पति काम करता था। मालिकों से दाद-फरियाद की, उन्हें उनका वादा याद दिलाया नया बेटे की जिंदगी का वास्ता दिया। मालिक अच्छे थे, साहबज़ादे को गोडाऊन-इंचार्ज

बना दिया। साहबज़ादे थोड़े संभले। देखने-भालने में अच्छे थे और कुछ नेतागिरी का तजुरबा भी था। थोड़े ही दिनों में मज़दूरों में लोकप्रिय ही नहीं हुए, छोटे-मोटे नेता भी बन गये।

फैक्टरी में किसी मुद्दे को लेकर हड़ताल हुई तो उनकी नेतागिरी और चमक उठी। हड़ताल लंबी खिच गई। धरना देते-देते ऊब होने लगती तो संगत के असर में गोली भी खाने लगे। उधर मालिकों ने समझदारी की। मज़दूरों के एक वर्ग को तोड़ लिया। हड़ताल असफल हो गई। विरोधी ग्रुप के कुछ लोग ले लिए गये, कुछ की छंटनी हो गई। वे अपना मामला लेबर कोर्ट में ले गये। केस शैतान की आंत की तरह लंबा ही होता गया।

इसी दौरान मां बेटे की शादी की आरज़ू लिए चलाना कर गई। मां जब तक थी, घर आने का एक बंधन था, अब वह भी न रहा। साहबज़ादे अब पक्के नशेड़ी बन गये। पहले धीरे-धीरे घर का सामान गया, फिर घर भी चला गया। साहबज़ादे एक किराए की कोठरी में पहुंच गये। अब नशे की लत पूरी करने के लिए इधर-उधर छोटी-छोटी चोरियों का धंधा भी शुरू हो गया।

पर उसकी आत्मा शायद अभी पूरी तरह मरी नहीं थी। कभी-कभी मन आत्मग्लानि से भर उठता। सोचता, यह कहां से कहां पहुंच गये हो तुम, दोस्त! बाप याद आता, मां याद आती, बहन याद आती और याद आता अपना सलोना बचपन। कभी-कभी मंजू का चेहरा भी आंखों के सामने घूम जाता। ऐसे क्षणों में अपने से वादा करता—नशा छोड़ूंगा, अच्छा बनूंगा, बहन के पास चला जाऊंगा... पर नशा टूटता तो उसे किसी न किसी तरह पाने के अतिरिक्त और कुछ न सूझता।

फिर वही सिलसिला शुरू हो जाता।

कभी पुलिस ने पकड़ा भी तो छोड़ दिया। नशेड़ी को हवालात में रखो तो नशा भी दो, नहीं तो मौत अपने सिर लो। धौल-धप्पा किया, दो-चार घंटे कोतवाली में बिठाया और भगा दिया। ऐसे केस में लेने के स्थान पर उल्टे देना पड़ जाए तो पुलिस क्यों सिरदर्द मोल ले।

एक बार एक भले पुलिस अफसर ने अच्छे घर का लड़का समझ कर एक ड्रग कैंप में भर्ती करवा दिया। कैंप में लत छूटी पर बाहर आकर फिर लग गई। कैंप से निकलने के बाद, कौन संभाले; यह भी तो एक समस्या थी।

एक बड़ी बहन थी जो बहुत मानती थी उसे पर अब वह भी विदेश में थी। वर्षों बाद लौटी तो भाई को बौरायी-सी इधर-उधर भागती ढूंढती फिरी। ढूंढ निकाला, इलाज करवाया और अपने साथ विदेश चलने को कहा पर उसने मना कर दिया। कह दिया, मुझे मेरे हाल पर छोड़ दो, बहना। कैसे और कब तक संभालोगी मुझे! मुझे आज पहली

बार अपनी ज़िंदगी का मकसद समझ में आया है। उसे मुझसे मत छीनो। अब मैं एक इश्तिहार बन कर जिऊंगा...

कुछ ऐसी ही कहानी रही होगी उसकी। क्योंकि उसने अपना सब सामान ठीक करने के बाद जो एक तख्ती बाहर निकाल कर रखी, उस पर लिखा था—'अपनी इस हालत के लिए मैं खुद जिम्मेदार हूं।'

इसके अतिरिक्त उस तख्ती पर यह भी लिखा हुआ था—

'कबिरा गर्व ना कीजिए
काल गहे कर केस
न जाने कित मारिये
क्या घर, क्या परदेस।'

□

आग्रह !

वार्षिक सदस्यता शुल्क निम्न पते पर 10 रु० डिमाण्ड ड्राफ्ट/धनादेश/पोस्टल आर्डर से भेज कर समय भी बचाएं : असुविधा भी।

पता :

एडीशनल सेक्रेटरी शीराज़ा हिन्दी, जे० एंड के० अकादमी ऑफ आर्ट कल्चर एंड लेंग्वेजिज, जम्मू-180001।

○○

प्रकाशित कृति को समीक्षार्थ भेजते समय कृपया दो प्रतियां भेजना न भूलें।

—सं०

भाषांतर :

पंजाबी कहानी

बस कण्डक्टर

□ दिलीप कौर टिवाणा

लेडी डॉक्टर पाली का तबादला नाभा से पटियाला का हो गया। घर वाले प्रयत्न में थे कि तबादला रुकवा लिया जाये। इसलिये वह पटियाला में मकान लेकर रहने की बजाय बड़े डॉक्टर की अनुमति से प्रतिदिन बस पर सुबह वह नाभा से चलती और शाम को वापिस लौट आती।

खटारा बस। गर्मी, पसीना, भीड़, कण्डक्टरों की बेहूदा हरकतें और फिकरेबाजी। वह तंग आ चुकी थी। लेकिन 'कुछ ही दिनों की तो बात है। सोचकर, सब झेल जाती, जिस दिन जीत उस बस के साथ ड्यूटी पर होता, वह तनिक सुख की सांस लेती, चूंकि वह एक अच्छा कण्डक्टर लगा था उसे।

'यह बैग वाली लड़की कहीं नौकर है ?' एक दिन किसी ने जीत से पूछा।

'हां जी, डाक्टर हैं', बड़ी डाक्टर ! कहते हैं खूब अच्छा वेतन पाती है। जीत ने टिकट पकड़ाते हुए धीरे से बताया।

'जी आजकल तो लड़कियां भी आदमियों से अच्छा कमाती हैं, तभी तो आदमियों का रौब नहीं रहा। साथ वाली सीट पर बैठे अधेड़-से आदमी ने कहा।

'हां, भले कितना ही कमाएं, घरानों की लड़कियां कहां आदमी के सामने आंख उठाती हैं। ...और यह लड़की...डाक्टर...मैं कई बार पटियाला जाता रहता हूं, देखा है, उसके तो मानों मुंह में जुबान ही नहीं,...पाली की ओर देखते हुए पिछली सीटों पर बैठे एक सरदार ने कहा।

'या खुदा, हमारी भी किसी...'फिकरा, बीच में ही रह गया जब टिकट पकड़ाते हुए गुलाबी सी कमीज़ वाले शौकीन की तरफ जीत ने घूर कर देखा और कहा—'क्यों भई, जाने का इरादा है कि यहीं उतार दूं गाड़ी से ?'

'मैंने तो कण्डक्टर भाई कुछ नहीं कहा', यों ही क्यों गर्म होते हो...? "पाली को जब जीत ने टिकट पकड़ाया तो वह दस का नोट निकाल कर देने लगी।

'चेंज तो नहीं है मेरे पास। चलो, पैसे कल दे देना।' कहकर वह आगे निकल गया।

आगे फिर एक बुढ़िया ने भी दस का नोट निकाल लिया।

'माई, छुट्टा नहीं है मेरे पास। साढ़े दस आने कुल भाड़ा बनता है, और ये नोट निकाल थमाते हैं कि...उसने। कठोर स्वर में कहा।

'कहीं बस ही न चला देना तुम, काके! मुझे तो ज़रूरी जाना है। बकाया तुम मुझे पटियाला जाकर दे देना, बुढ़िया ने हिम्मत करके कहा।

'ठीक है माई, बैठ जा, कहता वह टिकट काटता आगे निकल गया।

पाली अपने मरीज़ों, हस्पताल, नर्सों, दवाओं, ड्यूटी आदि के बारे में सोच रही थी कि बस रक्खड़ा, कल्याण, रौणी आदि पीछे छोड़ती चुंगी तक पहुंच गई।

'यार, आज इधर से चलो न, गीता भवन होकर', जीत ने ड्राइवर से कहा।

इस पर गुरुद्वारे की ओर जाने वाली सवारियां तनिक बुदबुदाई, लेकिन अब तक तो बस मुड़कर सीधी सड़क पकड़ चुकी थी।

फूल सिनेमा के पास कण्डक्टर ने घंटी देकर बस रोक दी और खिड़की खोलकर पाली से कहने लगा, 'आप यहां उतर लें, अस्पताल पास पड़ेगा यहां से।'

पाली जल्दी ही उतर गयी, वह कण्डक्टर का धन्यवाद करना भी भूल गयी थी। 'बेचारा भला कण्डक्टर है' उसे एक बार ख्याल आया।

आज शाम वापिस लौटते समय जब वह स्टेशन पहुंची, तो बस भर चुकी थी। मुश्किल से पैंतालीस मिनट रुक कर उसने अगले टाईम की प्रतीक्षा की। किसी बस का एक कण्डक्टर कमीज़ के बटन खोलकर 'आवारा' फिलम का गीत गुनगुनाता दो तीन बार उसके आगे से निकल गया।

एक भिखारिन को एक आना देकर उसने पीछा छुड़ाया!

न जाने क्यों लोग उसी की ओर पूरी आंखें खोल कर देख रहे, घूर रहे थे।

दूसरे दिन फिर मौका ऐसा लगा कि जैसे ही वह नाभा बस स्टैंड पर पहुंची तो बस भर चुकी थी और बिना टिकट वाली, फालतू सवारियों को जीत उतार रहा था। जीत एक पल के लिए उसके पास आया और कहने लगा, "आप अगली सीट से थैला उठाएं और बैठ जाएं। आपकी सीट सुरक्षित है।"

कई घूरती हुई नज़रों के पास से निकलकर पाली सीट पर आ बैठी और जीत ने तुरन्त ही बस को चलाने की व्हिसल दे दी।

'यह तो बेचारा बड़ा भला कंडक्टर है। पाली को मन ही मन एक बार ख्याल आया।

तबादला वापिस नाभा के लिए करवाने में ज्यों-ज्यों देर हो रही थी, पाली दुखी होती। बस निकल जाने का डर, खटारा बसों की खड़-खड़, हर समय दिमाग में कुछ चढ़ता उतरता रहना, कई बार जब कभी मोटी सवारियों के साथ बैठना पड़ना, उसके बढ़िया कपड़े क्रीज़ खो बैठते और किसी से आती पसीने की गन्ध से उसका सिर चकराने लगता।

फिर एक दिन पाली जब टिकट के पैसे देने लगी तो 'नहीं बीबी' रहने दो', कहता जीत आगे निकल गया।

नहीं भई पैसे ले लो। पाली ने ज़ोर दिया।

'क्या फर्क पड़ता है' कहता, वह फिर आगे जाकर किसी और को टिकट देने लगा।

कोई बात नहीं बीबी !

तब झगड़ते हुए पाली को संकोच हुआ और वह खामोश होकर बैठ गयी। लेकिन रास्ते भर वह हैरान होती रही कि कण्डक्टर ने उससे पैसे क्यों नहीं लिए ? उसे यह अच्छा भी न लगा। सन् 1961 में तीन सौ रुपये कमाने वाली के लिए साढ़े दस आने का भला क्या महत्त्व है ?

अगले दिन वह जानबूझकर पांच मिनट देर से गयी। उसने सोचा, आज पीपल बस द्वारा नहीं, पैप्सू रोडवेज़ की बस पर जाएगी। क्या फिज़ूल सी बात है कि किराया भी न लिया जाय।

लेकिन वह देखकर हैरान हुई कि ड्राइवर बस स्टार्ट करके खड़ा था कण्डक्टर को आवाज़ें लगा रहा था।

'ओए आते भी हो या नहीं ? अब क्यों लेट करवा रहे हो, इतनी जल्दी क्यों ?

'आगे पहुंचोगे कि नहीं', मटक कर आ रहे हो !' ड्राइवर ने कहा।

'चलो बीबी बैठो अगली सीट पर', खिड़की खोलते हुए उसने पाली से कहा।

'मेम साहिब के बिना भला बस कैसे चल पड़ती। पीछे से नाभा-पटियाला रूट पर हर रोज सफर करने वाला एक क्लर्क बोल उठा।

जीत ने घूर कर उसकी ओर देखा, सब चुप कर गये। बस चलती रही।

पाली ने पैसे निकाले लेकिन उसके बार-बार आग्रह पर भी जीत ने 'न' कर दी। पाली को गुस्सा आ गया। इस बेईमानी में यह मुझे भी हिस्सेदार कर रहा है। पर कौन भला पैसे लेकर टिकट नहीं काटता ? खैर, कम्पनी के साथ तो धोखा ही हैं न। वह सोच रही थी कि बस रुकवाकर एक चेकर चढ़ आया। लोगों की जब वह टिकटें देख रहा था तो पाली मानों पसीना-पसीना हो रही थी।

'कितनी शर्म की बात है कि मेरे पास टिकट ही नहीं...कह दूंगी कि कण्डक्टर ने दिया ही नहीं,' 'मैंने मांगा था' उसने सोचा। लेकिन बेचारा फंस जायेगा...नहीं तो कह दूंगी कि लेना भूल गयी। लेकिन नहीं, मैं क्यों झूठ बोलूं, उसके भीतर उठा-पटक होने लगी।

इतने में चेकर उसके पास आ पहुंचा।

'जी...टिकट', उसने कहा ही था कि जीत ने अपनी जेब में से टिकट निकाल कर कहा—यह मेरी बहिन है', और बीबी का टिकट यह मेरे पास है।

टिकट देखकर चेकर एक बार घुटनों से घिसे पायजामे और कोहनियों से फटे खाकी कपड़ों वाले कण्डक्टर और कीमती साड़ी वाली डाक्टरनी की ओर देखकर आंखों ही आंखों में मुस्कराया।

जीत शर्मा उठा। चेकर जल्दी ही अपनी ड्यूटी करके बस से नीचे उतर गया था।

पाली हैरान परेशान सोच रही थी कि साठ रुपये में गुजारा करने वाला किसी दिन रोटी की लाचारी झेलता मेरे टिकट के पैसे भरेगा ?

अस्पताल में उसे कितनी ही बार यह बातें याद आईं और वह बेचैन रही।

शाम को वह बस अड्डे पर पहुंची तो धीरे-धीरे चलता उदास-सा जीत, उसके पास आया।

—मेरी बड़ी बहिन भी लाहौर में डाक्टरी पढ़ती थी। झगड़े में वहीं मारी गयी... और लोग भी मारे गये—मैं गिरता पड़ता इधर आ गया—पढ़ाई भी कहां होती। कई बार तो रोटी भी पूरी नसीब नहीं होती थी। फिर मैं कंडक्टर बन गया।

आपका बैग और टूटी (स्टेथोस्कोप) देखकर मुझे अमरजीत याद आ जाती थी...और... आगे उसका गला भर आया।

पाली की बेचैनी बढ़ गयी। वह समझ नहीं पा रही थी कि क्या कहे ?

इतने में बस आ गयी।

वह जल्दी से उस ओर चल पड़ा और पाली उसे जाते हुए अंदर-बाहर कहीं गहरे, गीली नज़रों से देखती रही। और बस देखती रह गयी।

☐ अनु० फूल चंद मानव

संवाद

प्रख्यात हिन्दी कवि श्री जगदीश चतुर्वेदी से जोगेंद्र सिंह की बातचीत

—आपका पहला लेखन ?

—यूं तो मेरा लिखना बहुत बचपन से ही आरम्भ हो गया था उसका कारण कि मेरे पिता जी नौकरी में थे और उनका स्थानान्तरण प्रति वर्ष होता था और परिवार भी उनके साथ नये स्थान पर उनके साथ चला जाता था। यह नये स्थानों का परिवर्तन और भिन्नता होने के साथ ही वहां से निष्क्रमण कुछ ऐसी प्रवृत्तियां थीं जिन्होंने अकेला रहना सिखाया। घर पर पुस्तकों का विशाल भण्डार था। पढ़ने की प्रेरणा इन पुस्तकों ने दी और विंध्याचल और सतपुड़ा के आकर्षक स्थानों ने कविता की शुरूआत कराई। शुरू में कविता 8वीं कक्षा से ही लिखनी आरम्भ की। पहली कहानी 1958 में जब मेरी उम्र 16 वर्ष की थी तब लिखी।

—और पहली पुस्तक ?

—आपको जानकर आश्चर्य होगा कि कवि रूप में मेरी चर्चा हुई किन्तु प्रकाशित रूप में मेरी पहली पुस्तक कहानी संग्रह 1954 में छपा था। तब मैं एम०ए० का विद्यार्थी था। इन कहानियों की पर्याप्त चर्चा रही और इसने मुझे साहित्य के क्षेत्र में कुछ करने की प्रेरणा दी। मैंने बचपन से ही सोच लिया था कि मुझे कृतिकार का जीवन जीना है।

—आप अध्यापन से भी जुड़े रहे और बाद में शिक्षा मंत्रालय में रहे। क्या आपका सृजन भी प्रभावित हुआ ?

—मैंने एम.ए. के तुरन्त बाद माधव कॉलेज उज्जैन में प्राध्यापका की थी। उसके बाद कुछ वर्ष नागपुर विश्वविद्यालय में पढ़ाया। निश्चय ही उस दौरान मुझे लिखने के

लिए पर्याप्त समय मिलता था और पुस्तकालय की भी सुविधायें थी। दिल्ली में जब सरकारी नौकरी में आया तो पहली प्रतिक्रिया यही हुई कि यह नौकरी साहित्य सृजन में व्यवधान उपस्थित करेगी—ऐसा हुआ भी कि लिखना कुछ कम अवश्य हो गया पर मुझे ऐसा लगता है कि यही सृजन की इच्छा पनपती है तो समय या असुविधा नगण्य रह जाती है। अतएव जब मत होता था तब मैं लगातार लिखता भी रहता था जो आज भी बरकरार है।

—आप भोपाल से महानगरी दिल्ली में आये तो आपका साहित्यिक जीवन प्रभावित हुआ ?

—मैं जब मध्यप्रदेश के शान्त वातावरण से महानगर की आपाधापी में आया तो लगा कि जीवन एक यंत्र बन गया है। रूटीन का चक्र इतना भयावह हो गया था कि कुछ सोचने समझने का अवसर नहीं मिलता था पर बाद में सब कुछ सहज हो गया। मैंने उस महानगरीय दानव को अपने जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग मान कर अपना लिया था। हां इसका प्रभाव मेरी कविताओं पर पड़ा। दिल्ली आने पर लिखी गयी कवितायें इसका प्रमाण हैं। मानव मूल्यों का विघटन और भाई भतीजावाद एवं स्वार्थ सिद्धि के विभिन्न आडम्बर जो महानगरों में हैं उसके प्रति वितृष्णा महानगर ने पैदा की।

—आप अकविता आन्दोलन के प्रवर्त्तकों में माने जाते हैं वो कौन सी परिस्थितियां थी जिसके फलस्वरूप आपको अकविता आन्दोलन चलाना पड़ा और उसमें आपके और कौन से साहित्यिकों ने इस कविता आन्दोलन में साथ दिया ?

—मैं यह मानता हूं कि जितने भी आन्दोलन साहित्य में होते हैं वे किसी परिवर्तन की इच्छा से होते हैं अकविता आन्दोलन इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हिन्दी जगत में अवतरित हुआ। यों भी यह वह समय था जब तमाम विश्व में इसी प्रकार की काव्यगत प्रवृत्तियां परिलक्षित हो रही थी इग्लैंड में एंग्रीयग मैन और अमेरिका से विरानक कवितायें इसी दौरान लिखी गई। भारत में भी हिन्दी के साथ-साथ बंगला, तेलगू, मराठी और गुजराती आदि में इसी प्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे थे। हिन्दी में परिवर्तन की यह इच्छा आक्रामक अधिक और परिवर्तनकारी थी कवियों को लग रहा था कि छायावाद, नई कविता के आगे के साथ समाप्त नहीं हो गया वह नई कविता में भी व्याप्त है एक अजीब सी गैर रोमानी प्रवृत्ति कविता में पनप रही थी इसका एक कारण देश की वह परिस्थितियां भी थीं जिन्होंने इन युवा लोगों को एक विशेष प्रकार के मोहभग से भर दिया था और शब्दों में एक अकर्मण्यता एक ज्वालामुखी धधकने लगा था आजादी के बाद देश में फैले भ्रष्टाचार के विरोध में यह पहली सशक्त आवाज थी। अकविता का आशय काव्य विहीन होना नहीं है—प्रचलित काव्य मानों से हटकर नये काव्य का श्रीगणेश है। अकविता प्रारम्भ होने के दो वर्ष पूर्व मैंने एक संकलन प्रकाशित किया था जिसमें

चौदह कवि संकलित किये गये थे प्रारम्भ नामक इस संकलन के कुछ कवि कालांतर में हिन्दी के विशिष्ट कवि माने गये। और अकविता के दौर में उन्होंने भारत व्यापी ख्याति प्राप्त की। इसी प्रकार 7वें दशक के अन्त में मैंने 'रेसे' नामक काव्य संकलन का सम्पादन किया जिसमें वे तमाम कवि संकलित किये गये जो अकविता के पक्षधर और प्रमुख कवि थे। विशेष बात यह थी कि अकविता के कवियों में प्रगतिशील और स्वतन्त्र चेता दोनों ही प्रकार के कवि संकलित थे। यदि नाम लेना वांच्छित है तो कहूंगा कि हमारे प्रमुख सहयोगी थे डा० श्याम परमार, राजकमल चौधरी, कैलाश वाजपेयी, कुमार विकल, गंगा प्रसाद विमल, मुद्राराक्षस, धूमिल आदि।

—क्या आप अपनी साहित्यिक यात्रा में किसी से प्रभावित रहे हैं?

—सच तो यह है कि मैं सीधे-सीधे किसी से भी प्रभावित नहीं रहा। कारण शायद यह है कि कई स्थानों पर प्रारम्भिक शिक्षा होने से मैं स्वयं ही अपने साहित्य के सम्बन्ध में निर्णय लेता था और लगता है कि आज भी किसी ऐसे व्यक्ति की तलाश में हूं जिससे समय पड़ने पर मार्गदर्शन ले सकूं। परोक्ष रूप में कुछ विदेशी लेखक यथा कामू, काफ्का, सार्त्र और हिन्दी में किसी सीमा तक शिवमंगल सिंह सुमन, दिनकर और अज्ञेय को रूचि से पढ़ता रहा हूं इसे आप चाहें तो प्रभाव मान सकते हैं।

—आपके द्वारा प्रकाशित सम्पादित पचास के लगभग पुस्तकों में आप सर्वश्रेष्ठ कृति किसको मानते हैं?

—किसी भी लेखक से यह अपेक्षा करना कि वह अपने सृजन में से श्रेष्ठ का चुनाव स्वयं करें थोड़ा कठिन अवश्य है फिर भी जन-स्वीकृति को मैं यहां महत्त्व देता हूं। मेरी सर्वाधिक चर्चा एक वर्ग द्वारा इतिहासहन्ता को लेकर हुई और वर्ग ने मेरे मिथक काव्य सूर्यपुत्र की सर्वाधिक चर्चा की। मैं मान लेता हूं कि जब मेरे समकालीनों ने लगातार इनकी चर्चा की है तो यही मेरी अधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं।

—इतने महत्वपूर्ण पुरस्कार पाकर आपको कैसा लगा?

—थोड़ा असमंजस में अवश्य हूं कि इसका क्या उत्तर दूं। जन सामान्य के रूप में अच्छा तो लगता है किन्तु उसे मैं बहुत बड़ी उपलब्धि नहीं मानता। सम्मान किसी भी रूप में हो एक जन स्वीकृति है। इसलिए मैं इसे ग्रहण कर लेता हूं। मुझे कभी भी ऐसा नहीं लगा कि इस प्रकार के सम्मान या पुरस्कार लेकर कोई भी लेखक विशिष्ट बन जाता है। विशिष्ट वह भी होगा जब वह कुछ ऐसी विशिष्ट कृतियों का सृजन करे जो अविस्मरणीय रहे और साहित्य के इतिहास में विशिष्ट मानी जाए।

—अंग्रेजी, बुलगारियाई, फ्रेंच और सभी भारतीय भाषाओं में आपके साहित्य का अनुवाद हुआ। आप इससे कुछ सन्तोष महसूस करते हैं ?

—निश्चय ही मुझे अच्छा लगता है जब मेरी किसी कृति का मेरी मातृभाषा से किसी भाषा में अनुवाद होता है। इससे भी अच्छा तब लगता है जब हिन्दीतर भाषी विशिष्ट विद्वान अपनी भाषा में अनूदित मेरी रचना की प्रशंसा करते हैं। यह इहागत प्रशंसा लेखक को संतोष देती है । यह शब्दों में कहने की बात नहीं धमनियों में महसूस करने की बात है।

—समसामयिक साहित्य के सम्बन्ध में क्या कहना चाहेंगे ?

—देखो भई, समसामयिक शब्द बड़ा भ्रामक है। सुविधा के लिए मैं उसे समकालीन मान लेता हूं। हिन्दी के बुजुर्ग समीक्षक नो सारे आधुनिक साहित्य को सम-सामायिक मानते हैं आपका आशय गत एक डेढ़ दशक में लिखी जा रही कृतियों के सम्वन्ध में है। तो इस सम्बन्ध में मेरा मत यह है कि इधर बहुत गम्भीर और भावुक स्थापित करने वाला सृजन कम ही हो रहा है। लगता है कि नये लेखक शार्टकट में विश्वास करने लगे हैं। पत्र-पत्रिकाओं की बाढ़ के कारण प्रकाशन सुविधा अधिक हो गयी है। इसी वजह से मुझे याद नहीं आ रहा कि कोई ऐसी कृति मैंने इस बीच नहीं पढ़ी है जिसका प्रभाव अक्षुण्ण हो फिर भी मैं निराशावादी नहीं हूं। और यह मानता हूं कि हिन्दी का भविष्य उज्जवल है और कुछ कालजयी कृतियों बीसवीं सदी के अन्त तक अवश्य लिखी जायेगी।

—आप आजकल क्या लिख रहे हैं। आपकी अन्य योजनायें ?

—यों मैं आजकल बहुत नियमित रूप से नहीं लिख पा रहा हूं। किन्तु एक विधा में इधर नियमित लिख रहा हूं और वह है अपनी डायरी। मेरी इन डायरियों में अपने अंतरंग जीवन के साथ-साथ समसामयिक वात्याचक्रों और घटनाओं पर भी टिप्पणियां हैं कभी भविष्य में शायद इसका महत्त्व आंका जायेगा। कुछ नई तकनीक में लम्बी कविता भी लिख रहा हूं। आपने भविष्य की बात कही हो मित्र अब ही सरकारी नौकरी से मुक्त हूं और तब अपनी आत्मकथा और अपने अन्दर निश्चित किये हुए कुछ पात्रों और घटनाओं पर दो या तीन वृहदाकार उपन्यास अवश्य लिखूंगा। कविता तो मेरे जीवन के साथ चलती ही है सो उसका साथ तो रहेगा ही। □

एक टुकड़ा ज़िंदगी

कोई 'अपना' जो कभी कलम में न उतरा...

□ राम सरूप अणखी

"लड़का होगा, देख लेना।"

"लड़का हुआ तो दावत दूंगा, शानदार।"

"और यदि लड़की हुई तो ?"

'चलो फिर भी दावत ही सही।"

लड़की ने जन्म लिया। लड़का बीस दिन का होकर चल बसा था, उसके पश्चात् यह लड़की आई थी। चाहे लड़की थी, पर घर में खुशी मनायी गयी। मैंने उसका नाम रखा, 'चेतना'। दलजीत 'भारी' को बात याद रही, कहने लगा, "हो जाये दावत।" वादा याद है न ?

मैं बोला —बिलकुल ! वेतन मिला तो बरनाला जाकर पचास रुपये मैंने जगीर सिंह जगतार को थमा दिये। कहा, "ले भई कामरेड, कर दे फ़ीस्ट। दलजीत भी क्या याद करेगा।"

निमन्त्रण-पत्र विधिवत छापा गया। दोस्तों-मित्रों, सम्बन्धियों और पंजाबी साहित्य सभा के सभी सदस्यों को आमन्त्रित किया गया। सम्बन्धी और मित्र कोई नहीं आया। सोचते होंगे, लड़की के जन्म पर भी कोई खुशी होती है किसी को ? सभा के बीस सदस्य आये। यह दावत ठेकेदार नरैण सिंह के घर पर रखी गयी थी। साहित्य-सभाई बर्फी-पकोड़े खाते, चाय की चुस्कियां लेते हंसते भी जाते। बीच में कहीं फुसफुहाट उभरती "अणखी की बुआ नहीं होगी कोई।" जगतार कहे, "बुआ, एक छोड़ नौ थीं इसकी।"

"तो अणखी की बहिन नहीं होगी।" जगतार कहे, बहिन भी है। जलाल ससुराल है "उसके। आगे उसके भी दो लड़कियां हैं।"

"तो फिर, पहली लड़की की वजह से दी है दावत!" उनका अन्तिम अनुमान था।

"आगे को क्या बांध लग गया ? विवाह हुए अभी चार वर्ष हुए हैं, लड़कियां और भी हो सकती हैं ।" जगतार हंसने लगता ।

अन्त में बात निबटी, "यह दावत तो दलजीत ने दिलवायी है । अणखी कहीं बात कर बैठा उसके साथ और फिर आज के युग में तो लड़का-लड़की एक ही समान ही तो हैं ।"

अगले ही वर्ष मैंने चेतना के नाम से पांच हज़ार का बीमा करवाया । सोचा था, "बीस वर्ष उपरान्त ये पांच हजार सात-आठ हज़ार बन कर मिल जायेंगे, जो इस लड़की के विवाह पर लगा देंगे ।"

अढ़ाई-तीन वर्ष की होकर भी वह घुटनों के बल लोटने लगी । 'बा' एवम् 'मां' के अतिरिक्त कोई भी शब्द न बोल सकती । उसकी गर्दन एक ओर को ही लुढ़की रहती । उसे पराया दूध चुसनी से पिलाया जाता, क्योंकि उसके जन्म के बाद जल्दी ही बेटे स्नेह पाल का जन्म हो गया था । चेतना को मेरी मां संभालती ।

छ: सात वर्ष की उमर में वह मुश्किल से चलने ही लगी । गिनती के ही पांच-सात शब्द वह बोला करती । हम उसे बादाम-गिरी और मिश्री मक्खन में मिला कर चटाया करते । दो-तीन महीने वह मक्खन-बादाम खाती रही पर कोई अन्तर न आया । यह सब काम मेरी मां ही करती थी । मुझे जैसे कोई फिक्र ही नहीं थी । क्रूर जीवन के कांदे में मैं अभी बहुत धंसा नहीं था । मस्त रहना मेरा स्वभाव बन चुका था । सोचता था, बड़ी होकर स्वयं बोलने लग जायेगी । मां ने डाक्टरों से उसका 'तंदुआ' (जिह्वा मूल) भी चेक करवाया था । ठीक-ठाक था । जिह्वा भी ठीक थी । नखशिख भी सुन्दर । अंग-उपांग सब सही । खाती-पीती और खेलती । पर सुरत-संभाल कम । बोलना नहीं आता था । दस वर्षों की हुई तो पन्द्रह-बीस शब्द ही सीख सकी । फिर दो-तीन शब्दों के वाक्य भी बोलने लगी । बात समझ तो लेती, स्वयं समझा न सकती सिर्फ मेरी मां उसकी भाषा को समझती ।

गुरबचन सिंह भुल्लर दमदमा साहब का प्रवक्ता पद छोड़ कर दिल्ली स्थित सोवियत दूतावास के सूचना विभाग में जा चुके थे । मैंने उनको पत्र लिख कर लड़की की विपदा बताई । उनके साथ मेरी पारिवारिक सांझ थी । वे पहले भी सब जानते थे । उन्होंने लिखा कि मैं लड़की को साथ लेकर दिल्ली चला जाऊं । चेक करवा लेंगे और कदाचित् कोई चिकित्सा हो सके । गोद के लड़के क्रांतिपाल को साथ लेकर मैं और भागवंती दिल्ली जा पहुंचे । चेतना को तो लेकर जाना ही था । साथ में कपड़ों-लत्तों का ट्रंक । क्या पता कितने दिन लग जायें ।

उन दिनों भुल्लर राणा प्रताप बाग में रहते थे । पूरे पांच दिन हम वहां रहे । कैलाश कॉलोनी में डाक्टर अर्जुन दास सहगल का नर्गिस होम था । डाक्टर सहगल अमरीका से डाक्टरी की उच्च शिक्षा प्राप्त करके लौटा था । चेतना के कई टेस्ट हुए । किसी दिन मैं और भुल्लर चेतना को ले जाते । किसी दिन मेरे साथ भुल्लर की पत्नी गुरचरण होती । कभी गुरचरण और भागवंती जातीं । चेतना के सिर के कई एक्स-रे लिये गये । अन्त में डाक्टर सहगल ने बताया कि लड़की का दिमाग डेढ़ साल के बच्चे जितना ही विकसित हो सका है, जबकि उस समय उसकी उम्र ग्यारह वर्ष थी । जाहिर था कि बच्ची **'मंद बुद्धि'** थी । डाक्टर ने मुझसे कहा, ज़रा याद करके बताइये कि बच्ची के जन्म

के समय कोई घटना घटी हो। हो सकता है, यह इस प्रकार जन्मजात न हो। जन्म के पश्चात् 'ब्रेन डेमेज' हो गया हो।

मेरे माथे में एक टीस सी उठी, अवश्य ही लड़की के जन्म के समय घटी एक घटना का ही परिणाम निकला है। उस समय इस घटना को मामूली समझ लिया गया था। किसी को ध्यान ही नहीं था कि एक दिन इसका परिणाम घातक सिद्ध होगा।

हुआ यह कि जब लड़की का जन्म हुआ, भागवंती को बेहोशी के दौरे पड़ने लगे। औरतें उसके जुड़े दांत खोलतीं, वह फिर बेहोश हो जाया करती। देखते ही कि यह लड़की है, लड़का नहीं, आसो दाई ने उसे दूर बोरी पर लिटा दिया। मरती है तो पड़ी मरे। लड़की ही है न। बहू को न कुछ हो जाये। मेरी मां थी, आसो दाई थी और पड़ोसन औरतें अलग। भागवंती को जब पूरी तरह होश आ गया और उसे सम्भाल लिया गया तो आसो बुढ़िया ने तसला भर तेज़ गर्म पानी मंगवाया। तसले के पानी में लड़की को डुबा दिया। कहती—'कब की ठरे जा रही थी। इसका पाला उतर जायेगा।" फरवरी का महीना था। वर्षा होकर हटी थी। उस दिन सर्दी बहुत थी। लड़की बोरी पर हाथ पैर हिलाती तथा किलकारियां मारती रही थी, पर उस पानी में डुबोये जाने के पश्चात् वह फिर नहीं बोली। कांप कर एक उसांस भरी और फिर बस चुप। फूल की पंखुड़ी जैसी उस लड़की को पानी में डुबोया जाना शायद ऐसा घातक रहा होगा डाक्टर सहगल को मैंने यह सारी बात सुनायी तो वे समझ गये। कहने लगे, 'दिमाग का विकास रुक गया है। अब इसका दिमाग धीमी गति से विकसित होगा। दवाइयां लिख देता हूं। तीन महीने खिलाइये। तीन महीनों के बाद फिर दिखा जाइयेगा।"

यह भी कहा कि मैं घड़ी पास रख कर पूरा एक घण्टा प्रतिदिन लड़की को बोलने का अभ्यास करवाया करूं। इस प्रकार करने से बहुत फर्क पड़ेगा।

डाक्टर ने तीन सौ रुपये फीस ली 'ब्रेनो' नाम की गोलियां अपने पास से दीं। दो सुबह, दो सायं, वो तीन महीने खानी थीं। एक प्रात, एक सायं, तीन महीने ही ताकत के कैप्सूल, बहुत शक्तिवर्धक। दो तरह की अन्य गोलियां भी थीं। पूरा सात सौ रुपया खर्च आया। तीन सौ रुपया हमारा किराए-भाड़े का। तेरह सौ रुपया उन दिनों बहुत बड़ी राशि थी। पर हम एक नन्हीं सी उम्मीद लेकर गांव लौटे कि लड़की भली-चंगी हो जायेगी। और नहीं तो कुछ अपना आप संभालने योग्य हो ही जायेगी। वह ग्यारह-बारह वर्ष की हो गयी थी। टायलेट जाने के बाद वह अपने कपड़े तक सम्भालने में असमर्थ थी। वह ज़िद करती कि मेरी मां ही उसके मुंह में निवाले डाले। पोटली में दाल-रोटी बांध कर उसे पकड़ाते कि जा, बाहरी घर बाबा को दे आ। पर वह मार्ग में कहीं भी बैठ जाती। कपड़ा खोलकर रोटियों को देखने लगती। कोई कुत्ता आ जाता और रोटियां छीन के ले जाता। उसे याद ही न रहता कि बाहरी घर जाना है। कभी-कभार वह चुपचाप घर से निकल पड़ती और जाने किसके घर जाकर बच्चों से खेलने लगती। लड़कियां-बड़कियां उसे अजीब अजीब प्रश्न करतीं। वह ऊट-पटांग जवाब देती तो वे हंसतीं। मुहल्ले के लिए चेतना मनोरंजन का साधन बन गयीं थी। हर कोई बरबस उसे असे अपने घर बैठा लेता। दिन छिपने लगता तो मेरी मां उसे मुहल्ले के किसी घर से ढूंढ कर लाती। अपना मुहल्ला

छोड़ कर फिर वह और मुहल्लों-रोलों में भी जाने लगी। गांव के लोग इस तरफ़ से भले थे। ज्यादा अन्धेरा घिरने लगता तो कोई अपने-आप उसे हमारे घर छोड़ जाता। उसके बारे में अजीब-अजीब धारणाएं चल पड़ी थीं। कोई कहता, "यह देवी का रूप है। देख लेना, इसके बोल पूरे हुआ करेंगे।" कोई कहता, "फूल वाली पारो है यहां सुना नहीं उसकी कितनी मान्यता हुआ करती थी ?

नवोढ़ाएं उसे चोरी-छिपे पूछती, "री चेतना, मेरे क्या घर में होगा ? लड़की कि लड़का ?" वह 'लड़का' ही कहती। लड़का हो जाता तो चेतना को नया सूट मिलता। लड़की होती तो बेचारी चुप कर जाती। चेतना के पास सूटों की कमी न रहती। सूट देने वाली खुश होती, 'अरी, चेतना ने बोल निकाला, तभी लड़का घर आया हमारे।" मुझे इस प्रकार की सब बातें भीतर कहीं गहरे कसीसतीं।

डाक्टर सहगल की गोलियों से कुछ लाभ नहीं हुआ था। तीन महीने के पश्चात् हम फिर दिल्ली गये। इस बार दो रातें भुल्लर के यहां ठहरे तीन महीने फिर से वही चिकित्सा चली। न तो लड़की की समझ में कुछ अन्तर आया और न ही वह आगे से ज्यादा बोलने ही लगी। जिस बात ने मुझे सबसे ज्यादा हैरान किया, वह यह थी कि ग्यारह-बारह साल की उम्र में ही 'औरत' बनने लग गयी। मेरी मां भी हैरान थी 'लड़की तो चौदह साल की होकर 'औरत' बनने लगती है, और यह...? यह तो दैव है कोई। इसे भी एक दण्ड ही समझो।' मैं सोचता।

तेज दवाएं खाकर कदाचित् ऐसा हुआ हो। अब उसकी सम्भाल और भी ज़रूरी हो गयी। लड़का हो तो घर से बाहर जहां चाहे घूमता रहे कोई चिन्ता नहीं होती। और यह धीय-धन, इसकी सम्भाल तो बहुत अनिवार्य थी।

हम उसे तीसरी बार भी दिल्ली लेकर गये। डाक्टर सहगल ने इस बार न तो अपनी कोई फीस ली और न ही कोई दवा दी। लिख कर भी नहीं। कहा, 'ब्रेनो' खिलाते रहो। दो साल ट्राई करके देखो। शायद कुछ पर्सेण्ट फर्क पड़ जाये।'

'ब्रेनो' गोलियां दिल्ली में भी कहीं न मिलीं। बरनाला-पटियाला के केमिस्टों से तो वे कहां मिलतीं पजाब के अमृतसर, जालन्धर और लुधियाना में भी ये नहीं थीं। मैं सभी जगह गया था। इनकी फैक्टरी बम्बई में थी। डाक्टर सहगल से फार्मेसी का पता मंगवा कर मैंने बम्बई से दो सौ गोलियों का वी० पी० पैकेट मंगवा लिया। और फिर इसी भांति दो महीने के बाद वी० पी० मंगवा लेता। दो साल 'ब्रेनो' खाने से लड़की के दिमागी स्तर में पांच प्रतिशत अन्तर मुश्किल से आया होगा। अब वह अधिक शरारतें न करती। चुपचाप सी रहने लगी। उसका शब्द भण्डार बीस-तीस प्रतिशत और बढ़ गया। टूटे फूटे से वाक्य भी बोलने लगी। हां, पहले से देखने में तन्दरुस्त लगने लगी।

वह सत्रह-अठारह वर्ष की होकर पूरे वाक्य बोलने लग पड़ी थी। पर उसके शब्द स्पष्ट न होते। हम घर के या पास-पड़ोस वाले ही उसकी बातें समझ सकते। अब वह मुहल्ले से निकल कर बाहर भी कहीं न जाती। कपड़े-लत्ते की अब उसे सुध आ गयी थी। अपने आप को सम्भाल सकती थी। कभी-कभी बातें भी सयानों जैसी करती। एक बार मेरी

बहिन आयी 'जलाल' से और मुझे समझाने लगी, "रामसरूप भाई, हम चेतना का विवाह न कर दें? जरूरतमंद का क्या है ले जायेगा इसे। यह मां बनने लायक तो है ही। बच्चा भी हो सकता है।"

मेरी वह बहिन मेरे लिए मां से बढ़ कर थी। कभी-कभी वह मेरे साथ दोस्तों जैसी बातें करती।

मैंने अपना डर बताया, "इसका विवाह कर देने से बहिन, कहीं दुःख ही दुगुना न हो जाये। हम इसके विवाह पर पैसा खर्च करके करके बैठ जायें और वह मंदबुद्धि देख कर इसे छोड़ दे। फिर क्या करेंगे? इससे तो यह इसी प्रकार बैठी ही अच्छी।"

"कोई बे-औलाद आदमी ले सकता है इसे। उसकी पहली पत्नी इसे पुत्री समझकर संभाले। औलाद के लिए लोग अंधी को भी ब्याह नहीं लेते क्या?" बहिन ने एक और दलील दी।

और फिर सभी रिश्तेदारियों को यह निर्णय भेज दिया गया कि चेतना का ब्याह करेंगे। दोस्तों-मित्रों में भी यह बात पहुंची। कई प्रस्ताव प्राप्त हुए। एक पचास वर्षीय आदमी देखा गया। पर उसका क्या करते? वह दस वर्ष बाद मर सकता था। एक और देखा, उसकी आयु चालीस वर्ष थी। पर मुझे वह निपट पशु ही लगा। सोचा, यह साला अपने आपको तो ठीक रख नहीं सकता, लड़की को क्या सम्भालेगा? एक दो और भी देखे। दिमाग में बुरे-बुरे विचार उठते। मेरा जी मितलाने लगता। किसी ओर से भी मेरे दिल को आसरा न था। अन्त में मैंने एक दिन उल्टा फैसला सुना दिया, इस लड़की का विवाह करना बहुत बड़ी भूल होगी। जितनी देर मैं ज़ीता हूं, मैं इसे सम्भालूंगा। बाद में इसके भाई इसे संभालेंगे, आखिर उनकी भी तो यह कुछ लगती है।"

उसको अन्त तक मेरी मां ने ही उसे सम्भाला। चेतना की मां का देहावसान हो गया और फिर मेरी मां भी न रही तो छोटे भाई नवजोत की पत्नी ने चेतना को सम्भाला। सन् 1977 में मैं बरनाला आ चुका था। यहीं पर मैंने घर बना लिया था। घर में शोभा थी। पर चेतना धौंला ही रहती। कभी पांच-सात दिन बरनाला भी रह जाती। गर्मी के दिन थे, उसे मलेरिया हो गया। फिर मलेरिया बिगड़ गया और टाइफायड बन गया। पहले उसकी चिकित्सा धौला होती रही। उसकी मृत्यु से सत्रह अठारह दिन पहले हम उसे बरनाला ले आये थे। बड़ी दयनीय दशा थी उसकी। वह तो समझा भी नहीं सकती थी कि उसका दुख क्या है? उसे क्या खाने को दिया जाये, वह क्या चाहती है। खाने के लिए उसे जो कुछ भी दिया जाता वह खा लेती। जो भी पीने को देते, पी लिया करती।

उसका जन्म जनवरी, 1958 में हुआ और वह अगस्त, 1983 को समाप्त हो गयी। उसकी मृत्यु के दिन मैं घर में नहीं था। जालन्धर गया हुआ था। समाज क्या होता है, इसका सुबूत मुझे उस दिन मिला। धौले से बरनाला आकर बसे हुए बीस घरों के लोग इकट्ठे होकर आ गये। मेरे स्कूल के मेरे सहकर्मी-मित्र, बरनाला के मेरे लेखक-मित्र तथा मेरे पड़ोसी और फिर मेरे गिर्द बसने वाले जानकार लोग। जिस-जिसने भी सुना, आता गया। बात उड़ गयी, "अणखी यहां नहीं, चलो चलें भई, लड़की की मिट्टी ठिकाने

मंगायें ।" फोन सुन कर धौला से नवजोत व छोटी भी आ चुके थे । नोगा से चेतना के ननिहाल वाले भी । राम बाग में सत्तहर जनों की हाज़री थी । मैं रात को नौ बजे घर पहुंचा ।

कैसी यह होनी थी चेतना की । उसके मरने का किसी को कोई ग़म नहीं था । मैं अन्दर से हल्का था कि भला हुआ उसका अन्त मेरी आंखों के सामने ही हो गया । मेरे बाद उसकी पता नहीं कैसी दुर्गति होती । मैं केवल एक बार रोया । वह भी हरिद्वार जाकर । कङ्खल-घाट पर उसके अवशेषों की पोटली खोलने से पहले पंडों ने मुझसे पूछा यह तुम्हारा कौन था, सरदार जी ?"

"मेरी बेटी" मैंने कहा और साथ ही, तत्काल मेरा मन भर आया । जैसे छाती पर कोई भार रख दिया गया हो । जैसे पहली बार अहसास हुआ हो कि वह मेरी पुत्री थी और जिसका जैसे कोई अस्तित्व ही नहीं था । वह इस समय संसार में जैसी आयी, जैसी न आयी थी । कैसी जून भोग कर कर चली गयी । कङ्कखल से कुशाघाट तक दो मील रिक्शा में बैठा मैं सारे रास्ते रोता ही आया । फूट-फूट कर । इतना जल मेरी आंखों में जाने कहां से आ गया था । रिक्शा वाले ने केवल एक बार पीछे मुड़कर मेरी ओर देखा था । उसके लिए यह बात बड़ी साधारण रही होगी । हरिद्वार के रिक्शा चालक तो नित्यप्रति ऐसी सवारियों को देखते होंगे । उनके लिए तो यह आम बात थी ।

कालांतर के रचनाकाल में मैंने सात-आठ उपन्यास तथा ढ़ाई सौ के लगभग कहानियां भी लिखीं पर ..मेरी किसी भी रचना में 'चेतना' का पात्र कभी नहीं आया; यह पता नहीं क्यों ? उम्र भर यों खासी उधड़न-फटन सीने पर भी ज़िदगी के इस टुकड़े का पैंबन्द मैं कहीं नहीं जोड़ सका । □

किताबें

लेखक : डॉ० निज़ामउद्दीन

कृति : अध्यात्म के परिपार्श्व मे

पृष्ठ : 198, मूल्य : 50/-

प्रकाशक : जैन विश्वभारती, पो. लाडनूं--341306 (राजस्थान)

जीवन मूल्यों की धूप

□ मजहर खान

डॉ० निज़ामउद्दीन की नवीन कृति 'अध्यात्म के परिपार्श्व में' में इस्लाम की साधना पद्धति को जैन तथा वैष्णव साधना पद्धति से जोड़ने तथा तुलनात्मक अध्ययन को प्रस्तुत करती है। इससे पूर्व लेखक की अनेक कृतियां—जितेन्द्र महावीर, इकबाल-काव्य और दर्शन, भारतीय संस्कृति की पावन गंगामानस, स्वातंत्रयोत्तर महाकाव्य तथा अनेक अनूदित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

आलोच्य कृति 'अध्यात्म के परिपार्श्व में' ऐसे समय में प्रकाशित हुई है जब नैतिकता, मानवीय मूल्य, संवेदना और आध्यात्मिक चेतना के पुष्पित कंवल मुरझा गये हैं, बैर, अहंकार, हिंसा, द्वेष, घृणा के विषाक्त नाखून बढ़ते ही जा रहे हैं। अलगाववाद, सम्प्रदायवाद को मिटाने, मानवीय संबंधों को पुनर्जीवित करने तथा मानवीय मूल्यों को स्थापित करने में सक्षम हैं। एक ओर जहां कृति धार्मिक सहिष्णुता और राष्ट्रीय एकता को दृढ़ करेंगी वही दूसरी ओर तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में मील का पत्थर सिद्ध होगी। अध्यात्म एवं दर्शन जैसे गूढ़ एवं नीरस विषय को लेकर लेखक ने अपनी सरल एवं प्रभावपूर्ण भाषा में प्रत्येक निबंध को सरल, सरल बनाकर हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है।

लेखक ने प्रस्तुत कृति को चिन्तन मंथन, धर्म-दर्शन और व्यक्ति विचार, तीन भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग, चिन्तन मंथन, के अन्तर्गत लेखक ने अहिंसा सर्वधर्म सम्भाव, पर्यावरण, राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के साथ-साथ विश्वबंधुत्व की भावना को इस्लाम एवं जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक अध्ययन कर मार्मिक शैली में प्रस्तुत किया है। अहिंसा और अपरिग्रह दोनों हीं मानवीय संबंधों को दृढ़ करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जहां परिग्रह है वहां हिंसा का दैत्य सदैव विद्यमान रहता है। कबीर, नानक, महावीर, सभी ने हमें सत्य एवं अहिंसा की राह पर चलने का संदेश दिया। शाकाहारी जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित किया। पर्यावरण के प्रति सचेत रहने के लिए कहा और पर्यावरण की उपयोगिता को रेखांकित किया है। "जैन धर्म में पर्यावर्याण की अवधारणा" विषयक निबन्ध विद्वतापूर्वक लिखा गया है। "कबीर की शाकाहारी दृष्टि" निबन्ध में लेखक ने वैष्णव, जैन एवं इस्लाम में शाकाहार की उपयोगिता को उदार भाव से प्रस्तुत किया है। उनका यह निबन्ध उन्हें किसी बन्धन में बांध नहीं सका है। उनके मुक्त विचार सहज ही प्रभावित करते हैं। उनका चिंतन-मनन एक मौन साधक के रूप में, प्रत्येक व्यक्ति के लिए है। श्री विद्यानिवास जी मिश्र उनके निबन्धों के विषय में कहते हैं—"जब व्यक्ति पूरी सृष्टि को कर्त्ता से या पूरी सृष्टि के लिए चिन्ता करने वाले के साथ जुड़ता है तो वह दायरे में रहते हुए भी दायरे से ऊपर उठ जाता है। इसी अतिक्रमण की बात प्रो. निज़ाम-उद्दीन ने की है...।"

दूसरे भाग धर्म-दर्शन में लेखक ने जैन दर्शन के विभिन्न सिद्धान्तों, सामायिक ओमकार महामंत्र के साथ-साथ रमज़ान, गीता आदि का जैन दर्शन के आलोक में दार्शनिक महत्व तथा समानता एवं उपयोगिता का तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। भगवान महावीर के अनुसार शरीर अनित्य है। गीता में जन्म-मृत्यु को अवश्यम्भावी और जैन-दर्शन ने इसे उत्पन्न होना, नष्ट होना और अस्तित्व में रहना, त्रिपदी तत्व कहा है। मानव-धर्म और असाम्प्रदायिक दृष्टि" लेखक के उदात्त भावों एवं विचारों को उद्घाटित करते हैं। धर्म और राजनीति के मिश्रण ने नैतिकता को ठेस पहुचाई है। धर्म का राजनीति में होना एक शुभ लक्षण है किन्तु धर्म के नाम पर नारे लगाना, नेतिकताविहीन राजनीति का होना, वैमनस्य को जन्म देता है। लोग सम्प्रदाय, वर्ग, जाति में विभक्त हो राष्ट्र में विध्वंस को जन्म देते हैं। आपसी भाईचारे, प्रेम सौहार्द और मैत्री भाव को ठेस पहुंचाते हैं। इस प्रकार इस भाग का प्रत्येक निबन्ध राष्ट्रीय एकता को ही सुदृढ़ नहीं करता, अपितु एक-दूसरे के धर्म के रहस्यों एवं समानताओं को भी उजाकर करता है।

अंतिम भाग-व्यक्ति-विचार में लेखक ने भगवान महावीर, हज़रत मोहम्मद साहब के विचारों एवं संदेशों का तुलनात्मक अध्ययन, नारी जाति का महत्व, राष्ट्रीय एकता एवं विश्व शांति, अहिंसा तथा जैन धर्म के तीर्थंकरों की परम्परा का विस्तृत विवेचन एवं साम्यमूलक दृष्टि से अध्ययन कर वास्तविकता से परिचित करवाया है।

अनुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तन अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी ने सन् 1949 अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया। अणुव्रत के व्रतों द्वारा सर्वधर्म समन्वय, सहिष्णुता, अहिंसा को प्रतिष्ठित कर सकते हैं। समाज में व्याप्त कुरीतियों, सामाजिक अथवा जातीय भेदभाव को दूर कर सकते हैं। लेखक ने अपने निबंध "इस्लाम की रोशनी में अणुव्रत आन्दोलन" के द्वारा आचार्य श्री तुलसी के अणुव्रत आन्दोलन के प्रत्येक नियम को इस्लाम के सन्दर्भ में प्रस्तुत कर साम्य स्थापित किया है। लेखक जैन दर्शन के अतिरिक्त आचार्य श्री तुलसी के विचारों एवं उनके संदेशों से अत्यधिक प्रेरित हैं। आचार्य श्री तुलसी पर आधारित उनके निबन्ध "अध्यात्मवादी संत की सामाजिक चेतना", "एक ज्योतिमय युगद्रष्टा" एवं "आचार्य तुलसी की धर्मशासना : आधुनिक संदर्भ में" उनके व्यक्तित्व एवं चुम्बकीय शक्ति से प्रत्येक व्यक्ति एकनजर में ही उनकी ओर खिचा चला जाता है। आचार्य श्री तुलसी प्रत्येक धर्म, सम्प्रदाय के व्यक्ति को साथ लेकर चलते हैं तथा प्रत्येक धर्म में समन्वय स्थापित करने में सदैव प्रयत्नशील रहे हैं।

लेखक के निबन्ध लघु आकार में भले ही हो लेकिन निबन्ध गागर में सागर भरने के समान है। प्रत्येक निबन्ध साफ-साफ स्पष्ट भाषा में बिना किसी भेदभाव के या किसी धर्म की पक्षपातपूर्ण प्रशंसा किये अपनी बात को स्पष्ट करते हैं। 36 निबन्धों का यह संकलन स्पष्ट करता है कि "मानवीय मूल्यों को संरक्षण तभी प्राप्त होगा जब हमारा जीवन अहिंसामय, संयममय हो आध्यात्मिक विभा भी यहीं से फूटेगी।"

चिट्ठी पन्ना--

शीराज़ा का एक संयुक्तांक मिला विस्मित और हर्षित हूं। शीराज़ा इधर के पाठकों में उत्तरोत्तर लोकप्रिय हो रही है।

सुगठित, सुसम्पादित रचनाएं कई बार पढ़ गया। बधाई लें।

देवव्रत जोशी
रतलाम

शीराज़ा का ताज़ा अंक देखा। श्री शंकर दयाल सिंह की रम्य रचना 'सूरज कहां डूब रहा है ?' सचमुच ही भाव-चित्र लगी। कोवलम का दृश्य बड़ा जीवंत दिया है उन्होंने। 'स्मृति शेष अंचल पर' अधिक लिखा जा सकता था। 'नीला चांद' पर श्री मज़हर खान का विश्लेषण बड़ा ही सटीक बन पड़ा है। घाटी के इस अध्येता को बधाई। अन्य रचनाएं भी मोहक और स्तरीय हैं।

जम्मू-कश्मीर की आंचलिक सुषमा को समेटते हुए आपने जो बोध गम्य पत्रकारिता के मानदंड स्थापित किये हैं वे प्रशंसनीय हैं।

कृष्णदत्त तिवारी
कानपुर

शीराज़ा गम्भीर और स्तरीय लेखन को प्रापेगेट करने की दिशा में प्रयासरत है। अक्तूबर-नवम्बर 95 के भाषांतर में डोगरी कहानी 'रात एक परिकथा' (आप द्वारा अनूदित) में जनकसिंह का चरित्र बड़ा जीवंत और स्वाभाविक बन पड़ा है।

इधर मुझे मेरे एक मित्र ने शीराज़ा का यह अंक उपलब्ध कराया था। मैंने इसे आद्योपांत पढ़ा। आपकी प्रतिभा, कार्य संयोजन तथा सम्पादन की सराहना करना चाहता हूं।

जसविंदर शर्मा
चण्डीगढ़

शीराज़ा अपनी साहित्यिक गरिमा के साथ भारत भर में अपना स्थान बनाये हुए है। सुन्दर कविताओं में अमरजीत कौंके की कविता 'मैना के पंख' बहुत सुन्दर लगी। साजसज्जा में बदलाव मोहक है।

शैलेन्द्र स्वप्निल
प्रजापति
विदिशा

इस अंक के लेखक—

1. डा० रविरंजन
   टीचर्स फ्लैट-27
   सैंट्रल यूनिवर्सिटी कैम्पस
   हैदराबाद—500046
2. शशि प्रभा शास्त्री
   78—समाचार एपार्टमेंट्स
   म्यूर विहार I (विस्तार)
   दिल्ली—110091
3. अर्जुनदेव मजबूर
   207/12 उधमपुर—182101
4. ज्योतीश्वर पथिक
   115/96 न्यू हास्पिटल रोड
   जम्मू
5. डा० प्रेमसिंह जीना
   केन्द्रीय बौद्ध-शिक्षा संस्थान
   पो० बॉ० 161
   लेह—(लद्दाख) 194101
6. रेवती रमण शर्मा
   49, मधुवन कालोनी,
   अलवर 301001 (राज०)
7. शिव रैना
   87—रघुनाथ स्ट्रीट
   जम्मू, 180001
8. मनोज शर्मा
   34-35/सेक्टर—4
   त्रिकुटा नगर—जम्मू
9. नरेशकुमार उदास
   C.S.I.R. काम्पलेक्स
   पालमपुर 176061—H.P.

10. राग रंजन
C-6, आर्य नगर
अपार्टमैंटस परपड़ गंज,
दिल्ली-110092।

11. रामकृष्ण धर
C-10 कश्मीर आर्ट एण्ड ड्रेस
S.B.I. शिव मार्किट रैम्बल
जिला—उधमपुर J & K

12. निदा नवाज़
कोयल, पुलवामा
श्रीनगर (कश्मीर)

13. केवल सूद
बी० ए०—60-ए जनकपुरी
नई दिल्ली—110058

14. दिलीप कौर टिवाणा
पंजाबी यूनिवर्सिटी
पटियाला

15. फूलचंद मानव
फेज 2 मोहाली
चण्डीगढ़

16. जोगेन्द्र सिंह C/o Dr. वीरेन्द्र सक्सेना
18/11 पुष्प विहार
सेक्टर-1 साकेत,
नई दिल्ली-110017।

17. रामसरूप अणखी
गुरुनानक गली, कच्चा कालेज रोड
बरनाला—(पंजाब)

18. मजहर खान
मुहल्ला साज़गरी पोरा हवल
श्रीनगर—190011 (कश्मीर)

□

Regd. No. 28871/76

SHEERAZA HINDI

August-September 1996

Vol. : 32 No. : 3

38



Published by the Secretary on behalf of J & K Academy of Art, Culture & Languages, JAMMU & Printed at ROHINI PRINTERS, Kot Kishan Chand, JALANDHAR CITY (Pb.)